सूर्यकुमारी पुस्तकमाला—२५

पाषाण-कथा

राखालदास वंद्योपाध्याय

अनुवादक

शंभुनाथ वाजपेयी
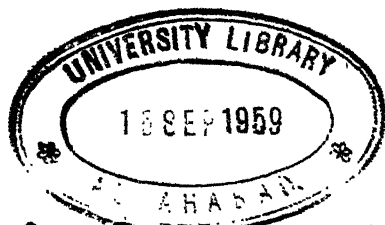
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।
मुद्रक—महताब राय, नागरी मुद्रण, काशी
प्रथम संस्करण १५००, सं० २०१२
मूल्य २॥)

पाषाण-कथा

माला का परिचय

जयपुर राज्य के शेखावटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्री अजीतसिंह जी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणित शास्त्र में उनकी अत्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामी जी से घंटों शास्त्र चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्री रामसिंह जी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुखी प्रतिभा राजा श्री अजीतसिंह जी ही में दिखाई दी।

राजा श्री अजीतसिंह जी की रानी आउआ (मारवाड़) चाँपावत जी के गर्भ से तीन संतति हुई—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूर्यकुमारी थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्री नाहरसिंह जी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्री उमेदसिंह जी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्री मानसिंह जी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंह जी थे जो राजा श्री अजीतसिंह जी और रानी चाँपावत जी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति, संचित कर्मों के परिणाम से, दुःखमय हुई। जयसिंह जी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ। सारी प्रजा, सब शुभचिंतक, संबंधी, मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा

निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्री सूर्यकुमारी जी को एकमात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्री चाँदकुँवर बाई जी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृवियोग और पतिवियोग दोनों का असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्री रामसिंह जी से मातामह राजा श्री अजीतसिंह जी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्यकुमारी जी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्री उमेदसिंह जी ने उनके जीवनकाल में दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्री सूर्यकुमारी जी बहुत शिक्षित थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाले चमत्कृत रह जाते। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानंद जी के सब ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामी जी के लेखों और अध्यात्म, विशेषतः अद्वैत वेदांत, की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिये एक अक्षय निधि की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापत्र बनते बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार श्री उमेदसिंह जी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार बीस हजार रुपए देकर नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा ग्रंथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था की। तीस हजार रुपए के सूद से गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी में 'सूर्यकुमारी आर्यभाषा गद्दी (चेयर)' की स्थापना की।

पाँच हजार रुपए से उपर्युक्त गुरुकुल में चेयर के साथ ही सूर्यकुमारी निधि की स्थापना कर सूर्यकुमारी ग्रंथावली के प्रकाशन की व्यवस्था की।

पाँच हजार रुपए दरबार हाई स्कूल शाहपुरा में सूर्यकुमारी-विज्ञान-भवन के लिये प्रदान किए।

स्वामी विवेकानंद जी के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जायँगे और अल्प मूल्य पर सर्व-साधारण के लिये सुलभ होंगे। ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी में लगाई जायगी। यों श्रीमती सूर्यकुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंह जी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान-लाभ होगा।

आमुख

'पाषाण-कथा' पुरातत्त्व के प्रसिद्ध विद्वान् तथा बंगला के सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार स्व० राखालदास बनर्जी के मूल बंगला ग्रंथ 'पाषाणेर कथा' का हिंदी भाषांतर है। यह ग्रंथ इतिहास की छाया लेकर पुरातत्त्व के आधार पर आख्यायिका के रूप में बड़ी मनोरंजक किंतु ज्ञानवर्द्धक शैली में लिखा गया है। हिंदी साहित्य में ऐसे ग्रंथों की कमी है। डॉ० भगवत् शरण उपाध्याय की 'सवेरा', 'गर्जन' और 'संघर्ष' नामक रचनाएँ इस कोटि में रखी जा सकती हैं। फिर भी राखाल बाबू की अपनी विशेषता है। इसमें संदेह नहीं, प्रस्तुत भाषांतर हिंदी जगत् का मनोविनोद और ज्ञानवृद्धि करेगा।

प्राचीन इतिहास के साधनों में पाषाण का बहुत महत्त्व है। स्थापत्य, तक्षण, मूर्त्ति और उत्कीर्ण अभिलेखों के रूप में पत्थर ने अतीत के ऊपर बहुत प्रकाश डाला है। दारु-निर्मित स्थापत्य, मूर्ति तथा अन्य हस्त-कौशल की सामग्रियाँ सुंदर और उपयोगी होते हुए भी शीघ्र नष्ट हो जाती हैं। कपड़ा, कागज, भूर्जपत्र, ताडपत्र आदि पर लिखा साहित्य और इतिहास समय समय पर नई प्रतिलिपियों और संस्करणों के कारण बदलता रहता है। लोहा और ताँबा मिट्टी और अग्नि से विकृत हो जाते हैं। पाषाण ही एक ऐसा आधार है जो शीत, आतप, वर्षा तथा काल के चपेटों को सहता हुआ खड़ा रहता है। किसी घटना, स्मृति, विचार, कीर्ति को चिरस्थायी बनाने का यह एक दृढ साधन है। अशोक ने अपने 'धम्म' के प्रचारार्थ जब पाषाण को माध्यम बनाया तब कहा : 'यह प्रक्रम किस प्रकार चिरस्थायी हो ? यह अर्थ बहुत बढ़ेगा, विपुल बढ़ेगा; डेढ़ा, दूना बढ़ेगा। यह अनुशासन

यहाँ और दूरस्थ पर्वत-शिलाओं पर लिखा गया। जहाँ शिलास्तंभ सुलभ हों वहाँ यह अनुशासन शिलास्तंभों पर लिखा जाना चाहिए।' [अशोक के लघु शिलालेख : मास्की] महासागर के गर्भ में बालुका-कणों से पत्थर के निर्माण से लेकर मंदिर, चैत्य, विहार, स्तूप और राजप्रासाद की अट्टालिकाओं तक एक लंबी कहानी है। भारत में युग-परिवर्तन तथा राज्य-परिवर्तन के साथ पाषाण का उपयोग बदलता रहा, परंतु रहा वह महान् घटनाओं, महापुरुषों और युगप्रवृत्तियों का साक्षी। पाषाण स्वतः मूक, जड़ तथा स्थिर है। परंतु मनस्वी लेखक की अंतर्दृष्टि और लेखनी ने जड साक्षी को चैतन्य प्रदान कर उसे मुखर बनाया है। वह सारे अतीत के दृश्यों को प्रस्तुत करता है। यद्यपि इस ग्रंथ का आधार पुरातत्त्व और इतिहास है तथापि इसका साहित्यिक महत्त्व इससे थोड़ा भी कम नहीं होता। आख्यायिका के प्रायः सभी गुणों का इसमें निर्वाह हुआ है और पाठक कहीं भी पाषाण के वस्तुरूप से टकराता नहीं; वह ज्ञानवर्द्धन के साथ प्रचुर आनंद का अनुभव करता है।

'पाषाणेर कथा' का यह भाषांतर प्रायः अविकल किंतु बड़ा ही सजीव और सुंदर हुआ है। भाषांतरकार श्री शंभुनाथ वाजपेयी इस कला में बहुत ही दक्ष तथा सफल हैं। उन्होंने दूसरे बंगला के ग्रंथों का भी हिंदी में भाषांतर किया है। यद्यपि वे काशीवासी हैं तथापि मातृपक्ष से उन्हें बंगभारती का महत्वपूर्ण वरदान मिला है। प्रस्तुत प्रयास के लिये वे बधाई के पात्र हैं।

काशी विश्वविद्यालय
भाद्र कृ० १२, सं० २०१२ वि० } **राजबली पांडेय**

ग्रंथकार का निवेदन

पाषाण-कथा 'आर्यावर्त्त' के निमित्त प्रेसिडेंसी कालेज के अध्यापक श्री खगेंद्रनाथ मित्र महाशय के अनुरोध के अनुसार लिखी गई थी। उन्होंने उक्त पत्रिका के नाम के संबंध में संक्षेप में एक प्रबंध लिखने के लिये कहा था किंतु अंततोगत्वा यह खंड खंड करके क्रमशः प्रकाशित होने योग्य बहुत बड़ा प्रबंध हो गया। लिखते समय विज्ञानाचार्य श्री डा० जगदीशचंद्र वसु, आचार्यपाद श्री रामेंद्रसुंदर त्रिवेदी और 'प्रवासी'-संपादक श्री रामानंद चट्टोपाध्याय से अनेक प्रकार की सहायताएँ मिली हैं। त्रिवेदी महोदय तथा रामानंद बाबू ने पुस्तक समाप्त होने पर इसे आद्योपांत पढ़कर संशोधित किया है। अपने चरणों में बैठाकर मुझे प्रत्न-विद्या की वर्णमाला सिखानेवाले आचार्यपाद महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री महोदय ने इसकी भूमिका लिखी है। उनकी यह उपक्रमणिका न होती तो संभवतः मेरा उद्देश्य ही नष्ट हो जाता। पत्थर की यह आत्मकहानी प्राचीन पत्थरों की कहानी होते हुए भी इतिहास की छाया का अवलंबन करके लिखी गई आख्यायिका है, विज्ञान-संमत शैली में रचित इतिहास नहीं।

६५, शिमला स्ट्रीट, कलकत्ता
२१ वैशाख, १३२१ } श्रीराखालदास बंद्योपाध्याय।

भूमिका

कोई नहीं कह सकता कि पुरानी बातें हमें कौन बताता है। ब
बूढ़े अधिक से अधिक १००–१५० वर्ष की कहानी सुनाएँगे। इ
अधिक पुरानी कहानी सुनानेवाले इस पृथ्वी पर नहीं पाए जाते।
ठीक है कि लिखित रूप में छोड़ जाने पर वही कहानी बहुत दिनों
टिक सकती है, परंतु जिस वस्तु पर कहानी लिखी जाती है वह वस्तु
अधिक टिकाऊ नहीं होती। कागज आठ-नौ सौ वर्ष तक टिकता
तालपत्र बारह-चौदह सौ वर्ष टिकता है, भोजपत्र पंद्रह-सोलह सौ
टिकता है और पेपिरस अधिक से अधिक दो हजार वर्ष तक चर
है। इससे अधिक पुरानी कहानी सुनने का ठिकाना पत्थर को छ
और कहीं नहीं है। सो भी सब पत्थरों में नहीं। बलुआ पत्थर पचास-स
वर्षों में गल जाता है। बहुतेरे बड़े पत्थर चप्पड़ छोड़ते हैं। केवल दो प्र
के पत्थर ऐसे होते हैं जिनपर उत्कीर्ण चिह्न बहुत दिनों तक बने र
हैं। एक प्रकार का पत्थर अग्नि के ताप से गल जाता है। इसे श
कहते हैं। दूसरी कोटि का पत्थर किसी प्रकार गलता नहीं, क्षीण न
होता। इसे पाषाण कहते हैं। पुरानी कहानी सुनने के लिये इ
पाषाण को वाचाल बनाना पड़ता है, अन्यथा पुरानी कहानी सुनने
और कोई उपाय नहीं है।

दूसरे देशों में तीन-चार हजार वर्षों का वृत्त पाया जाता है क्यों
वहाँ के विद्वान् जो ग्रंथ छोड़ गए हैं उनकी प्रतिलिपि करने का
आज तक चला आ रहा है। हमारे यहाँ भी इस प्रकार की अ
रचनाएँ मिलती हैं जिनमें सब कुछ उपलब्ध है—याग-यज्ञ है, री
नीति है, चिकित्सा है, ज्योतिष है, व्याकरण है, काव्य है, अलं

है, विज्ञान है—है सब कुछ, नहीं है केवल उस समय की पुरानी कहानी। हमारे पूर्वपुरुषों को पुरानी कहानी सुनाना प्रिय नहीं था। इस विषय में ऋषि-मुनि मौन हैं, कवि मौन हैं, दर्शन, विज्ञान और ज्योतिष मौन हैं। इसलिये अपने यहाँ की पुरानी कहानी अगर आप सुनना चाहते हैं तो पत्थर से कहिए कि बोले, अन्यथा भारतवर्ष की पुरानी कहानी कहनेवाला दूसरा कोई नहीं मिलेगा।

पत्थर बड़ा कठिन पदार्थ होता है, बाहर से भी और भीतर से भी। बोलने में शब्दों का उच्चारण करना पड़ता है। शब्द उन्हीं वस्तुओं में स्थित होते हैं जो भीतर से पोली होती हैं। किंतु पत्थर तो ठोस होता है। न्यायशास्त्र के अनुसार शब्द आकाश का गुण है; पत्थर में आकाश नहीं होता इसलिये पत्थर को वाचाल बनाना बड़ा कठिन कार्य है। आकाश तो आकाश ही है, पत्थर पर टाँकी तक बड़ी कठिनाई से चल पाती है। उस समय के राजा-महाराजा टाँकी से खोद-खोदकर पत्थर पर जो दो-चार कहानियाँ लिख गए हैं केवल उन्हीं की प्रतिध्वनि वे पत्थर करते हैं। हजारों वर्षों के अनंतर जब टाँकियों के वे चिह्न एक में मिल जायँगे तब उनकी प्रतिध्वनि भी बंद हो जायगी। इस अवधि में आप चाहें तो पत्थरों से ये दो-चार कहानियाँ सुन ले सकते हैं। हमारे देश में कई स्थानों में पत्थर पर टाँकियों से उत्कीर्ण इस प्रकार के लेख वर्तमान हैं। इन्हीं का संग्रह हमारे यहाँ का पुराना इतिहास है।

पत्थर की बात समझ लेने की क्षमता सब किसी में नहीं होती; हमारे देश में तो बिलकुल नहीं थी। बड़े यत्न और बड़े परिश्रम से लगभग ८० वर्ष पूर्व प्रिंसेप साहब ने पत्थर की भाषा के अक्षर पहचानना आरंभ किया था। उनके पश्चात् कीटो, कनिंघम, ब्यूलर इत्यादि दूसरे विद्वानों ने उस भाषा को समझना सीखा। अब इस देश के भी बहुत से लोग पत्थर की कही हुई बातें सुना सकते हैं, उन्हें समझ सकते

हैं और सर्वसाधारण को समझा सकते हैं। लेकिन पत्थर तो बड़े अल्प-भाषी होते हैं। एक शिलापट्ट पर केवल एक ही घटना का उल्लेख रहता है। अनेक शिलापट्टों का संग्रह किए बिना इतिहास की उपलब्धि नहीं होती। फिर शिलापट्ट भी एक ही स्थान पर नहीं मिलते। कोई हिमालय में, कोई विंध्य पर्वत पर, कोई उरु वेला में तो कोई सुदूर नील-गिरि पर्वत पर मिलता है। इन सबका संग्रह करना बड़ा श्रमसाध्य है। अँगरेजों ने अपने व्यापक राज्य-विस्तार, अपनी प्रभूत क्षमता और अपनी अनंत ज्ञान-पिपासा के कारण ही इन समस्त शिलालेखों का संग्रह करके भारतवर्ष के इतिहास का उद्धार किया है। जो कुछ हम लोगों के वश के बाहर की बात थी उन सबको उन्होंने सुसाध्य बना डाला है। अनेक विषयों में हम उनके ऋणी हैं और इस विषय में तो अनंत काल तक हम उनके ऋणी बने रहेंगे। इस ऋण का परिशोधन किसी तरह भी संभव नहीं।

•

बौद्ध धर्म की उत्कर्षावस्था में भगवान बुद्ध के परम भक्त गण पारस्परिक सहयोग से पत्थरों को गढ़-तराश कर बड़े बड़े स्तूपों का निर्माण किया करते थे जिनके मध्य में भगवान बुद्ध की अस्थि स्थापित की जाती थी। बुद्ध, धर्म और संघ का यहाँ एकत्र मिलन होने के कारण इन स्तूपों की अत्यंत भक्ति-भाव से पूजा हुआ करती थी। इनके चारों ओर बड़े बड़े पत्थरों की परिघा (रेलिंग) बनाई जाती थी। छोटे छोटे खंभों पर परिघा टिकी रहती थी। दो दो खंभों के सहारे तीन तीन सूचियाँ रहती थीं। ओप (पालिश) ऐसी सुंदर होती थी कि हाथ फिसलते थे। जो लोग चंदा देते थे उनके नाम प्रत्येक खंभे पर, प्रत्येक सूची पर और परिघा के प्रत्येक पत्थर पर अंकित कर दिए जाते थे। भारतवर्ष में इस प्रकार के अनेक स्तूप थे किंतु अब दो ही चार शेष रह गए हैं। इन स्तूपों में बहुत से पत्थर हैं जो मिल-जुलकर अनेक

प्रकार की बातें बताते हैं, हमें बहुत सी पुरानी कहानियाँ सुनाते हैं, हमारे विगत गौरव की स्मृतियों को पुनर्वार ताजी कर दिया करते हैं।

बघेलखंड के भरहुत नामक स्थान में ऐसा ही एक विशाल स्तूप था। काल की कुटिल गति के कारण उसका बहुत सा अंश बौद्ध धर्म के विरोधियों ने नष्ट कर डाला है। उसकी परिघा का जितना अंश अखंडित बच गया था उसे कनिंघम साहब ने लाकर कलकत्ते के बड़े संग्रहालय में पुनः उसी रूप में खड़ा करके स्थापित किया है। इसी स्तूप का एक पत्थर कैसी कैसी पुरानी कहानियाँ कहता है, इसे आप सुनें। श्री राखालदास वंद्योपाध्याय एम० ए० ने अत्यंत परिश्रम करके और अत्यधिक द्रव्य व्यय करके इन पत्थरों की बोली समझना सीखा है और उसे आपको बतला रहे हैं।

श्रीहरप्रसाद शास्त्री

पाषाण-कथा

१

समय का मुझे अनुमान नहीं है इसलिये जन्मकाल के पश्चात् कितना समय बीत चुका यह मैं नहीं कह सकता। जहाँ तक स्मृति जाती है वहीं से आरंभ करता हूँ। बचपन की इतनी-सी बात याद है कि समुद्र की प्रशस्त वेला में मैं अपने भाई-बंधुओं के साथ क्रीड़ा करता हुआ विचरण करता था, वायुवेग के कारण उड़ जाया करता था, वात्याचक्र में पड़कर इधर से उधर लुढ़का करता था, कभी समुद्र के जल में गिर पड़ता और जल के हट जाने पर, धरती सूख जाने पर, पुनः लौट आया करता था। उस महासमुद्र की विशालता का अनुमान आप लोग ठीक ठीक नहीं कर सकते। उसके रेतीले मैदान का विस्तार आप लोगों के समस्त महादेशों से भी अधिक प्रशस्त था। जो जलजंतु उस महासमुद्र में रहा करते थे उन्हें यौवन की मूर्छा छूटने

के अनंतर फिर नहीं देखा। बचपन में मैं एक बार मूर्छित हो गया था। मूर्छा भंग होने पर देखता क्या हूँ कि मैं युवक हो गया हूँ। सुना है, तुम्हारे इस संग्रहालय में उन जलजंतुओं की अस्थियाँ संगृहीत हैं। कुछ दिन पूर्व कोई विरल-केश गौरांग साधक पर्वतों का भेदन करके उन सब जीव-जंतुओं की अस्थियाँ ले आए थे।

समुद्र वेला में कितने दिनों तक उड़ता हुआ विचरण करता रहा, कह नहीं सकता। रूपांतर होने से पहले की बहुत थोड़ी सी बातें याद रह गई हैं। एक दिन मध्याह्न में प्रचंड सूर्य द्वारा उत्तप्त वायु के झोकों से प्रताड़ित होता हुआ मैं अनेक बालुका-कणों के साथ समुद्र-गर्भ में जा गिरा। उस दिन जितनी दूर आ पड़ा, जीवन में और किसी दिन उतनी दूर नहीं आया था। मेरी जीवनयात्रा का उसे पहला चरण समझिए। उस दिन इसकी कल्पना भी नहीं थी कि किसी दिन अतीत काल के साक्ष्य के रूप में, युग-युग का इतिहास सँजोए हुए, मुझे आबद्ध होकर संग्रहालय में पड़ा रहना पड़ेगा। उस दिन जिस स्थान पर आकर गिरा था वहाँ से समुद्र का जल हटा नहीं, फलतः अपने बचपन का निवास-स्थान मैं फिर कभी नहीं देख सका।

दूसरे-दूसरे बालुका-कणों के साथ बहुत दिनों तक मैं समुद्र के गर्भ में रहा। हमारी छाती पर से होकर न जाने कितने बेढंगे जलजंतु आते-जाते रहते थे। हम लोग उनका जन्म लेना और मरण होना देखा करते थे। समुद्र के बालुकामय गर्भ में उनका जन्म होता और आमरण वे उसी बालुका क्षेत्र में वास किया करते थे। मर जाने पर उनकी अस्थियों से शुभ्र बालुका क्षेत्र और अधिक शुभ्र हो उठता था। तुम

लोगों की प्राचीन जीव-विद्या का मूल स्रोत ये अस्थियाँ ही हैं। तुम उस युग के किसी भी जीव का समूचा कंकाल एकत्र नहीं कर सके; दो-एक अस्थियों को लेकर ही तुम अतीत युग के जीवन का चित्र अंकित करना चाहते हो, पर वह बन नहीं पाता। अतीत का साक्षी मैं उन समस्त जीव-जंतुओं को देख चुका हूँ। मैंने उन्हें स्पर्श किया है; जीवन धारण करने से लेकर उसकी अंतिम सीमा तक उनकी गतिविधि का मैंने निरीक्षण किया है और इहलीला समाप्त हो जाने पर उनकी अस्थियों को अनेक युगों तक अपनी छाती पर ढोया है—मैं कहता हूँ कि तुमसे वह चित्र बन नहीं पाता। तुमने अतीत युग के जीवन की जो चित्रावली बना रखी है वह हास्यास्पद है। बालुका-कण को यदि अट्टहास करने की क्षमता होती तो मेरे हास्य से यह समूचा भवन गूँज उठता। मैंने देखा है, मुझे स्मरण है, किंतु मुझमें अपने मनोगत को व्यक्त करने की क्षमता नहीं है; मुझमें तुम लोगों की तरह बातचीत करने अथवा लिखने की सामर्थ्य नहीं है; इसलिये सब कुछ जानते रहने पर भी मैं तुमसे कुछ बता नहीं पाता।

समुद्र-गर्भस्थ बालुका-क्षेत्र में मैंने कब तक निवास किया, यह नहीं कह सकता, क्योंकि पहले ही बता चुका हूँ, मुझमें कालानुमान की धारणा नहीं है। बचपन में मूर्छित हो जाने की बात भी पहले कह चुका हूँ। एक दिन सूर्यास्त के समय न जाने किस दारुण आघात से समुद्र का गर्भ विदीर्ण हो गया; प्रचंड उद्वेलन से विशाल जलराशि इतस्ततः आलोड़ित होने लगी, अनेक जलजंतुओं की जीवनलीला समाप्त हो गई और मैं मूर्छित हो गया। इसके उपरांत काल का प्रवाह किस भाँति,

अपेक्षाकृत अधिक सभ्य किसी दूसरी जाति ने आकर अपने तीक्ष्ण धारवाले अस्त्रों की सहायता से पूर्वोक्त काली जाति के विकटाकार मनुष्यों का नाश कर दिया। तुम्हारे अनुमान में बहुत कुछ सत्यांश है क्योंकि उसके परवर्त्ती काल के मनुष्यों का धातु-निर्मित उज्ज्वल अस्त्रों की सहायता से आखेट करना विदित है। एक दिन एक आदमी ने इसी प्रकार के अस्त्र से हमारा भेदन करने की चेष्टा की थी। पाटलिपुत्र-वासी भिक्खु द्वारा प्रदत्त जो स्तंभ उधर देख रहे हो उसपर आज भी एक ओर उस आघात के चिह्न वर्तमान हैं। बाद में ज्ञात हुआ कि वह धातु ताम्र थी। सुना है, जिस जाति के मनुष्य ताम्र-निर्मित अस्त्रों का व्यवहार किया करते थे उसके वंशधर दक्षिणापथ के विस्तृत प्रदेशों में अब तक निवास करते हैं। तुम लोगों के संग्रहालय में ताम्र-निर्मित अस्त्र-शस्त्रों की संख्या अपेक्षाकृत कम है किंतु ऐसे शस्त्रास्त्र तुमने बहुत देखे होंगे। तुम्हारे पूर्व-पुरुषों ने जब अपने लौह-निर्मित अस्त्रों की सहायता से भारतवर्ष पर अधिकार कर लिया तब यहाँ के पूर्व-निवासी पराजित होकर विंध्य पर्वत के दक्षिण ओर चले गए। विजितों ने भी धीरे धीरे लौह का व्यवहार आरंभ किया और थोड़े ही समय में उनमें से ताम्र का व्यवहार उठ गया। एक दिन रात्रि के समय कुछ ताम्रास्त्रधारी लोगों ने आकर हमारी छाती पर स्थान स्थान पर अग्नि जलाई। बहुत दिनों के बाद मैंने अग्नि का वह आलोक देखा। इसके पहले की जिस घटना का वर्णन मैंने किया है उसे अपने पार्श्ववर्ती साथी बालुका-कण से सुना है। अग्नि के ताप से हमारी छाती और आसपास की भूमि जलकर राख हो गई। अग्नि

की प्रचंडता से हम लोग विदीर्ण हो गए और एकत्रित जनसमूह बाध्य होकर भाग गया। थोड़ी देर बाद, बगल की वनभूमि में से निकलकर कुछ श्वेतांग, दीर्घकाय, पिंगलकेशी मनुष्य आए। आते ही इनपर चारों ओर से ताम्रास्त्रधारी मनुष्यों ने आक्रमण कर दिया। इन श्वेतकाय मनुष्यों ने आत्मरक्षा की कोई चेष्टा नहीं की अपितु अंत समय में अग्नि और आकाश को लक्ष्य करके किसी नवीन भाषा में अत्यंत उच्च स्वर से कोई गंभीर ध्वनि की। यह ध्वनि इतनी तीक्ष्ण थी कि आक्रमणकारियों में से बहुत लोग भयभीत होकर भाग गए। श्वेतांग और कृष्णांग मनुष्यों के बीच हुए युद्ध के परिणामस्वरूप मुझे अग्नि के आलोक का प्रथम दर्शन प्राप्त हुआ था। आगे चलकर इस प्रकार के आलोक का दर्शन अनेक बार हुआ, कई बार तो इससे भी तीव्रतर अग्नि मेरे पास ही प्रज्वलित की गई, लेकिन पहले पहल उस आलोक को देखकर जैसा आनंद हुआ था वैसा आनंद फिर कभी नहीं हुआ। सूर्योदय होते ही उजले वर्म्म और सुतीक्ष्ण अस्त्रों से सज्जित श्वेतांग जाति के सैनिक दल बाँध-बाँधकर आए और मृतकों के शव एकत्र करने लगे—उनके विलाप से समूचा पर्वत-प्रदेश प्रतिध्वनित हो उठा। कुछ लोग लकड़ी एकत्र करने चले गए। थोड़े से लोग शव के पास बैठे रहे।

क्रमशः चिता की अग्नि आकाश छूने लगी। वनवासी श्वेतांग जाति के शव भस्म हो गए। जलने से बची हुई अस्थियाँ एकत्र करके मिट्टी के छोटे से पात्र में रख दी गई और श्वेतांगों के दल आ-आकर उनपर पुष्प चढ़ाते गए। सायंकाल एक बड़े से दंड के साथ वह

भस्माधार पृथ्वी के भीतर गाड़ दिया गया। इसके पश्चात् अनेक दिनों तक चारों ओर की पर्वतमालाओं से गंभीर आर्त्तनाद सुनाई पड़ता रहा। ज्ञात हुआ कि कृष्णवर्ण मनुष्य जाति के रक्त से पर्वतप्रदेश लाल हो गया है, श्वेतकाय सैनिक भीषण प्रतिहिंसा से पागल होकर कृष्णकाय जाति का मूलोच्छेद कर रहे हैं, झुंड के झुंड बालक और वृद्ध, स्त्री और पुरुष काटे जा रहे हैं तथा पर्वत की वह उपत्यका धीरे धीरे जनशून्य होती जा रही है। वायुवेग से उड़कर भस्मराशि बिखर गई और उससे भूमि की उर्वरता बढ़ गई। अल्प काल में ही वह उपत्यका पुनः वनस्पतियों से हरी-भरी हो गई। इसके पश्चात् हमें मनुष्य के दर्शन नियमित रूप से नहीं मिले। कृष्णकाय मनुष्य बड़ी सावधानी से मृगया करने आते। अधिक संख्या में तो वे फिर कभी नहीं दिखाई पड़े। कभी कभी जटा श्मश्रुधारी वनवासी मनुष्य पुष्प और लकड़ी एकत्र करने के निमित्त अरण्य में दूर तक घुस आते थे और कभी कभी प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर कृष्णकाय मनुष्य श्वेतकाय मनुष्यों का छिपे छिपे पीछा किया करते थे। किंतु उस पर्वत प्रदेश में अथवा उस उपत्यका में बहुत दिनों तक मनुष्य का निवास नहीं हुआ।

सुना है, क्रमशः श्वेतकाय मनुष्यों से यह देश भर गया और कृष्णकाय मानव जाति धीरे धीरे लुप्त होने लगी। जो लोग अवशिष्ट रह गए वे अधीनता स्वीकार करके नवागत जाति का अनुकरण करते करते उन्हीं में घुल-मिल गए। श्वेत जाति के चरम उत्कर्ष का युग मैं नहीं देख सका। जब मैं पुनः मनुष्य जाति के संसर्ग में लाया गया, जान पड़ता है उस समय श्वेतकाय जाति की अवनति का युग था। मैंने सुना

है कि इस जाति ने जितनी उन्नति की उतनी उन्नति इस देश की अन्य किसी जाति ने नहीं की। ये लोग लकड़ी के बड़े बड़े भवन बनाते थे और बारीक औजारों के प्रयोग से उनमें अत्यंत सुंदर नक्काशी किया करते थे। धीरे धीरे लकड़ी के बदले पत्थर को गढ़-तराशकर भवन निर्माण करने लगे। लकड़ी के सहारे जल में भी ये संतरण किया करते थे एवं बड़े बड़े काष्ठ-खंडों में वर्त्तुलाकार काष्ठ लगाकर बैल, भैंसे, घोड़े आदि जंगली जीवों से बोझ खिंचवाया करते थे। जिस व्यक्ति ने वर्त्तु-लाकार काष्ठखंड के स्थान पर रथों में पहिए का पहले पहल प्रयोग किया था उसका नाम तुम लोग आज तक स्मरण करते हो। क्रमशः सूर्य के प्रखर उत्ताप तथा कृष्णकाय जाति के मिश्रण से उनके रंग में भी परिवर्त्तन होने लगा। मैं जब मनुष्य-समाज में लाया गया तो दिखाई पड़ा कि नवीन जाति का वर्ण-वैषम्य धीरे धीरे दूर हो रहा है, आचार-व्यवहार का भेद घट रहा है और शक्ति में भी न्यूनता हो रही है।

बहुत दिनों के बाद बगल में दारुण पीड़ा होने लगी। सुना है, अब तुम लोगों को विश्वास हो रहा है कि पाषाण को भी पीड़ा होती है। मैंने देखा कि एक मैला-कुचैला व्यक्ति मेरी बगल में लोहे की कील ठोंकने की चेष्टा कर रहा है। बहुत प्रयत्न करने के बाद, कई कीलें तोड़ चुकने पर, एक कील का थोड़ा सा अंश मेरे पार्श्व में प्रविष्ट हो सका। यंत्रणा को व्यक्त करने की, विरोध या निषेध करने की अथवा समस्त घटना को स्मरण रखने की क्षमता यद्यपि मुझमें नहीं है, फेर भी इतना कह सकता हूँ कि वैसी असह्य यंत्रणा मुझे कभी नहीं

हुई। वैसी यंत्रणा संभवतः समुद्रगर्भ में मूर्च्छित होने के पहले भी नहीं हुई थी; हाँ, आगे चलकर केवल एक बार हुई। धीरे धीरे ज्ञात हुआ कि पर्वत में स्थान-स्थान पर मनुष्य लोग कील ठोंकने का प्रयत्न कर रहे हैं और भयंकर पीड़ा के कारण समस्त पर्वत त्रस्त हो उठा है। एक एक करके दस कीलें एक ही पंक्ति में ठोंक दी गईं। इसपर आक्रमण करने वालों ने लौहदंडधारी और कई मनुष्यों को बुला लिया। कीलक मूल में लौहदंडों के प्रयोग और सबकी समवेत शक्ति के योग से हमारा हृदय गंभीर घोष करता हुआ विदीर्ण हो गया। हमें हटा बढ़ाकर आततायियों ने पुनः कीलें ठोंकना आरंभ किया। थोड़ी देर में ही पर्वत के समस्त तल-प्रदेश से विदीर्ण होने का वैसा ही गंभीर घोष सुनाई पड़ने लगा। हम समझ गए कि उस उपत्यका में सर्वत्र प्रस्तर-कुल के ऊपर इसी प्रकार का अत्याचार किया जा रहा है। सूर्यास्त के पहले ही पर्वत-प्रदेश का वह समस्त भाग विकृत हो गया। अंधकार होने के साथ ही चारों ओर आग जलाई जाने लगी और बहुत दिनों के उपरांत वह वनभूमि एक बार पुनः मनुष्यों द्वारा जलाई गई अग्नि के प्रकाश से अलोकित हो उठी।

आगे चलकर मुझे ज्ञात हुआ कि स्तूप-निर्माण के निमित्त पत्थर काटने के लिये नगर से सहस्राधिक व्यक्ति उस पर्वत पर आए हुए थे। दिन भर वे पाषाण-छेदन करते और रात्रि में पर्वत के नीचे विश्राम किया करते थे। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त पर्यंत पाषाण-छेदन के घोष और उस घोष के प्रतिघोष से वह शैलश्रेणी कंपायमान रहती थी। चतुष्पद-संकुल वह हरा भरा प्रदेश प्राणियों से रहित हो गया।

दो मास पर्यंत मनुष्य लोग उस पर्वत से शिलाएँ काटने में व्यस्त रहे। शिलाएँ प्रस्तुत होने पर नगर से सैकड़ों बैलगाड़ियाँ आ पहुँचीं। बैलगाड़ियों के आवागमन के निमित्त उस उपत्यका से लेकर नीचे की भूमि तक का मार्ग प्रशस्त कर दिया गया था। बृहत्काय हाथियों के कई दल पर्वत के तलप्रदेश तक ले आए गए और कई दिनों तक वे बृहदाकार पाषाण खंडों को अपने शुंडों से उठा-उठाकर बैलगाड़ियों पर लादते रहे।

दो सहस्र वर्ष पूर्व निर्बल मनुष्य जाति किस प्रकार इन बड़े बड़े पाषाण-खंडों को पर्वतों से उठाकर दूरवर्ती नगरों तक ले गई थी, वाष्पयंत्रों की सहायता के बिना इतने भारी भारी पत्थर किस प्रकार भूमि से ऊपर उठाए गए थे, इसे सोच-सोचकर तुम लोग चकित होते हो, किंतु मैंने इसमें कोई आश्चर्यजनक बात नहीं देखी थी। विस्मय मुझे किस बात पर हुआ था, सुनोगे ? मुझे विस्मय हुआ था बैलगाड़ी देखकर, बैलगाड़ी का पहिया देखकर, पहिए का घूमना देखकर। मैंने सोचा था, लकड़ी का क्षुद्राकार पहिया भारी भारी पत्थरों का बोझ सहन नहीं कर सकेगा। यदि उसने बोझ सहन भी कर लिया तो गाड़ी आगे खिसकेगी ही नहीं और कोई न कोई संकट अवश्य घटित होगा। परंतु सामान्य प्रयत्न से ही गाड़ी चलने लगी, पहिया घूमने लगा और क्रमशः अत्यल्प काल में ही रास्ता कटने लगा। उस प्रकार की बैलगाड़ियों का व्यवहार अब तुम लोग नहीं करते। पत्थर पर खुदे हुए उनके चित्र तुम देख सकते हो। वे आजकल की बैलगाड़ियों की तरह नहीं होती थीं। आधुनिक बैलगाड़ियों

में दो पहिए होते हैं, किंतु उनमें चार या इससे भी अधिक पहिए हुआ करते थे। पहिए अगर भूमि में धँस जाते थे अथवा मार्ग में कीचड़, गड्ढे आदि पड़ते थे तो हाथियों से सहायता ली जाती थी। अपने शुंडों से वे फँसे हुए पहियों को निकाल देते थे और आवश्यकतानुसार जुते हुए बैलों की सहायता करते थे। इस प्रकार सहस्राधिक शिलाएँ बैलगाड़ियों पर लदकर नवीन मार्ग से होती हुई सैकड़ों योजन दूर पहुँच गईं। शिलावाही शकट जिस दिन नगर के पास पहुँचे उस दिन वहाँ बड़ा उत्सव हुआ। नगर-निवासी दल के दल हम लोगों का निरीक्षण करने आए। इतने बड़े बड़े पत्थर बहुतों ने इसके पहले कभी नहीं देखे थे। वे हमें देख-देखकर, आश्चर्य प्रकट करने लगे। शकटों की पंक्ति क्रमशः नगर-प्राकार के भीतर प्रविष्ट हुई। उनके कारण धीरे धीरे मार्ग अवरुद्ध हो गया। जो थोड़े से राजकर्मचारी वहाँ उपस्थित थे उनके प्रयत्न करने पर भी जब मार्ग मुक्त नहीं हुआ तब काषाय वस्त्रधारी, मुंडितशिर, लोलचर्म एक अत्यंत वृद्ध व्यक्ति ने आकर भगवान् बुद्ध का नाम ले-लेकर मार्ग मुक्त करने का अनुरोध किया। उनके तथा राजकर्मचारियों के प्रयत्न से मार्ग स्वच्छ हो गया। शकटों का समूह नगर के भीतर से होता हुआ दूसरी ओर वाले नगर-प्राकार के बाहर जाकर एक स्थान पर एकत्र हुआ।

उसी समय मैंने देखा कि मानव जाति में बहुत अधिक परिवर्तन हो गया है, अनेक विषयों में उसकी उन्नति हुई है और अनेक विषयों में अवनति भी। नए नए नाम, नवीन आचार-व्यवहार, नवीन प्रकार के अस्त्र-शस्त्र तथा व्यवहारोपयोगी सामग्री ने मेरी पूर्वपरिचित

श्वेतकाय मानवजाति में बड़ा अंतर उत्पन्न कर दिया है। बुद्ध, स्थविर, भिक्षु, संघ, संघाराम, चीवर, काषाय इत्यादि के संबंध में इससे पूर्व मैंने कुछ नहीं सुना था। नगर सुंदर सुंदर गगनस्पर्शी भवनों से परिपूर्ण हो गया था, राजपथों पर पत्थर बिछा दिए गए थे, बड़े बड़े नगरों में जल का अभाव दूर करने के लिये कृत्रिम नदियाँ खोद डाली गई थीं; हाथी, ऊँट, घोड़े इत्यादि जीवधारी मानव जाति के वशीभूत होकर उन्हें वहन करने लगे थे; ऊँटों और घोड़ों से चलनेवाले शकटों के घोष से कान के पर्दे फटने लगे थे; और नगर के बीच से होकर जानेवाले जलमार्गों में विचित्र प्रकार की नावों का आवागमन होने लगा था। इस प्रकार का नगर मैंने पहले कभी नहीं देखा था। धीरे धीरे हाथियों ने पत्थरों को शकटों पर से उठाकर भूमि पर रख दिया। कुल पत्थरों को धरते उठाते संध्या हो गई। शकटों के पीछे पीछे जो विशाल जन-समूह वहाँ तक आया था वह एक एक करके नगर की ओर वापस जाने लगा।

वह विस्तृत प्रदेश धीरे धीरे जनशून्य हो गया। पहले मैंने कोई नगर अथवा किसी नगर-निवासी को नहीं देखा था। उस दिन सहस्रों नागरिकों का कथोपकथन मैंने सुना जिसमें बहुत सी बातें मेरी समझ में आईं और बहुत सी नहीं। पर इतना मुझे निश्चय हो गया कि मानव जाति की भाषा में बड़ा परिवर्तन हो गया है। पहले कृष्णकाय वनवासी मानव जाति के मुख से जो भाषा सुनी थी उसका अमिश्र प्रयोग फिर नहीं सुनाई पड़ा। नवागत श्वेतकाय मनुष्यों के मुख से जैसी भाषा सुना करता था वैसी भाषा भी फिर नहीं सुनी। इस समय नागरिकों

को जिस भाषा का व्यवहार करते सुना वह यद्यपि प्राचीन श्वेतकाय जाति की भाषा की भाँति ही थी, किंतु वैसी कठोर नहीं, प्रत्युत उसकी अपेक्षा कोमल और श्रुतिमधुर थी।

मनुष्य जाति के दर्शन बहुत दिनों बाद हुए थे। मैं वृद्ध हूँ—अत्यंत वृद्ध! मुझमें अपने वय की गणना करने की यदि क्षमता होती तो उसे सुनकर तुम लोग दाँतों तले उँगली दाबते। वृद्ध लोग प्रगल्भ हो जाते हैं। नगर-निवासी मनुष्य जाति को मैंने कैसा देखा-पाया, इसे सुना रहा हूँ; संयतचित्त होकर सुनो; मेरी वाचालता से विरक्त मत होना। बैलगाड़ियों पर लादकर लाए गए पत्थरों को देखने के लिये भाँति भाँति के लोग आए हुए थे। जो लोग राजमार्ग से होकर आए थे उनमें स्त्री और पुरुष, वृद्ध और बालक, श्वेत और अश्वेत सभी प्रकार के लोग थे। हम लोगों का छेदन करने के लिये जो लोग पर्वत पर गए थे वे श्रमजीवी, कठोर परिश्रम में पटु, कटुभाषी, बहुभाषी और बहुभोजी थे। शकटों पर पत्थर आता सुनकर जो लोग हमें देखने नगर के बाहर गए थे उनमें अधिकांश श्रमजीवी थे परंतु उनमें से दो-एक को देखकर ऐसा प्रतीत हुआ था कि वे किसी दूसरे जगत् के निवासी हैं। उनकी दीर्घ काया और कोमल मुखछवि देखने से जान पड़ता था कि वे कठिन शारीरिक श्रम करने के अभ्यासी नहीं हैं। उनके कपड़े सुंदर और बहुमूल्य थे, जिस स्थान से होकर वे निकल जाते थे वह स्थान सुगंध से परिपूर्ण हो जाता था, उनकी दृष्टि तीक्ष्ण किंतु आँखें अलसाई थीं। बाद में ज्ञात हुआ कि वे विलासप्रिय नागरिक थे। नगर-प्राकार से होकर जाते समय एक अन्य श्रेणी के

मनुष्यों को मैंने देखा था। वे दीर्घकाय, सुंदर, कोमलांग किंतु साथ ही सुगठित शरीरवाले थे। वस्त्रों के ऊपर उन्होंने लौहवर्म धारण किया था। उनके हाथों में तेज धारवाले शस्त्र थे, दृष्टि उनकी तीक्ष्ण और सतेज थी। बाद में ज्ञात हुआ कि वे युद्धजीवी थे। पहले जिस श्वेतकाय जाति को देखा था उसमें जो लोग युद्ध किया करते थे वे ही देवसेवा करते और वे ही हल भी चलाते थे, परंतु उनमें विलासिता नहीं थी। आजकल तुम लोगों को यह बात अविश्वसनीय प्रतीत होगी। हजारों वर्षों से तुम लोग जातिभेद को और जातिभेद के अनुसार कर्म-भेद को देखने के अभ्यासी हो चुके हो इसलिये इसपर संभवतः तुम्हें विश्वास नहीं होगा। तुम लोगों में अपनी प्राचीन प्रथा का जो कुछ अवशेष बचा हुआ है उससे तुम समझते हो कि जातिभेद सनातन है। किंतु मैं जातिभेद से भी पहले का हूँ, मैं मनुष्य जाति की अपेक्षा प्राचीन हूँ, समस्त जीवधारियों की अपेक्षा प्राचीन हूँ—मेरी बात पर विश्वास करो!

नगर कैसा होता है, इसे उसी दिन देखा। देखा कि यह तो मनुष्यों का जंगल है। पर्वत के तलप्रदेश में जब तक पड़ा रहा तब तक यही देखता रहा कि एक जीवधारी दूसरे जीवधारी को देखकर या तो मेलजोल उत्पन्न कर लेता है या दूर भाग जाता है; या तो परस्पर वार्तालाप में प्रवृत्त हो जाता है, या एक दूसरे को मार डालने की चेष्टा करता है। इतने संकुचित स्थान में इतने अधिक जीवधारी परस्पर विवाद और संघर्ष न करके किस प्रकार रह रहे हैं, इसे देखकर मुझे अत्यंत विस्मय हुआ था। किंतु सुना है कि विवाद और हिंसा करने

का ढंग अब बदल गया है; वस्तुतः जहाँ कहीं भी जीवधारियों का अस्तित्व है, विवाद और हिंसा वहाँ अब भी वर्तमान है।

नगर-प्राकार से होकर जिस समय नगर के भीतर जा रहा था उस समय देखा था कि नर-नारियों का स्रोत भिन्न भिन्न मार्गों से आकर एक स्थान पर एकत्र हो रहा है। परस्पर वार्तालाप करना तो दूर रहा, एक दूसरे की ओर दृष्टिपात तक किए बिना लोग अपने अपने गंतव्य की ओर चले जा रहे हैं। पहले दिन नगर देखकर मुझे यह बात अत्यंत विस्मयकारी लगी थी। राजमार्ग के दोनों ओर सुसज्जित दूकानों की श्रेणी तथा प्रभूत पण्य सामग्री को पहले पहल देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ था। शकटों को देखने के लिये पण्यशालाओं के ऊपर गवाक्षों में अवगुंठन-रहित अंतःपुरिकाओं को भी मैंने देखा था। इसके पहले इतनी अधिक स्त्रियों को एकत्र कहीं नहीं देखा था। उस दिन कितने प्रकार के आभूषण, कैसे कैसे वस्त्र, किस किस तरह की वेशभूषा दिखाई पड़ी, इसे क्या बताऊँ! शताब्दी पर शताब्दी बीतती चली गई किंतु सर्वप्रथम मानव जाति का नगर देखकर जैसा आनंद हुआ था वैसा फिर कभी नहीं हुआ; आगे चलकर होगा, इसमें भी संदेह है। हमारा दर्शन करने के लिये नगर के प्रायः समस्त श्रेणी के लोग आए हुए थे। महाराज भी पधारे थे। उनके स्वर्ण-निर्मित रथ में आठ अश्व जुते हुए थे। रथ के आगे पीछे अश्वारूढ़ राजकर्मचारी चल रहे थे। नगर-निवासी उन्हें देखकर हर्षोत्फुल्ल हो-होकर आनंदध्वनि करते थे और वातायनों में से नागरिकाएँ पुष्प और खील की वर्षा कर रही थीं। महाराज का आगमन मानों एक स्वतंत्र

महोत्सव हो गया था। राजमार्ग में मैंने उन सुंदर रमणियों को भी देखा था जो पुष्पालंकार से सज्जित होकर नागरिकों की दृष्टि आकृष्ट कर रही थीं। उनके हाव-भाव, आचार-व्यवहार उस समय तक मेरे लिये बिलकुल नवीन थे। बाद में ज्ञात हुआ कि वे वारांगनाएँ थीं।

नगर पार करने पर मैंने देखा कि नगर-प्राकार के बाहर सुसज्जित पुष्पवाटिकाओं में नर-नारियों का समूह एकत्र है। रंग-बिरंगे वस्त्रों से विभूषित, भाँति भाँति के अलंकारों से सज्जित स्त्रियों के कलहास्य से नगर का वह उपकंठ अपूर्व शोभाशाली हो उठा था। आसव-पान से ईषद्रक्त उनके आकर्ण विस्तृत नेत्र कटाक्षपात करते करते मानों क्लांत हो गए थे। वैसी विलास-विह्वल दृष्टि मैंने फिर नहीं देखी। कोई व्यक्ति नित्य जिस वस्तु को देखता है उसके प्रति उसकी दृष्टि आकृष्ट नहीं होती। पर नवीन वस्तु देखने पर मानों उसकी आँखें तृप्त ही नहीं होतीं। नगर, नागरिक, नागरिकाएँ, उपनगर, पुष्पोद्यान, उत्सव सब कुछ उस समय मेरे लिये एकदम नवीन था। उस दिन जिस भाव से मैंने मानव जाति को देखा, उस भाव से उसके पूर्व कभी भी नहीं देखा था और न पुनः कभी देखूँगा। पर्वत के तलप्रदेश में जब निवास करता था तब देखता था कि संध्या होते ही वह वनप्रदेश निःशब्द हो जाता है। जिस दिन चंद्रोदय नहीं होता था उस दिन खद्योतों के आलोक में पर्वतमाला बड़ी भयंकर प्रतीत होती थी। नगर की ओर देखने पर मुझे वही बात स्मरण हो आती थी। हम लोग जिस स्थान पर पड़े हुए थे, संध्या होने पर वहाँ से देखा करते थे कि दूर पर

विस्तृत पर्वतमाला की भाँति नगर के अंधकाराच्छन्न भवनों की श्रेणी अस्पष्ट रूप में भासित हो रही है और पर्वतों पर चमकते हुए खद्योतों की भाँति नगर में असंख्य दीपक जल रहे हैं। पहले मैं नहीं जानता था कि दीपक कैसा होता है। अग्नि का प्रकाश मैंने देखा था किंतु इससे पहले दीपक का आलोक नहीं देखा था। दीपक का स्निग्ध आलोक दूर से और भी स्निग्ध प्रतीत होता था। रात्रि होने पर नगर के भिन्न भिन्न स्थानों से गीत-वाद्य के स्वर सुनाई पड़ते थे। नदी के वक्ष पर कभी दो-एक नौकाएँ दिखाई पड़ जाती थीं। छोटी-सी नौका पर युवक युवती नैश विहार के लिये निकलते थे। युवती गीत गाती थी और युवक डाँड़ा चलाता था। किसी किसी दीर्घाकार नौका पर विलासी पुरुष मदोन्मत्त वारनारियों से घिरे हुए कलरव करते चले जाते थे। अपने आमोद-प्रमोद, हास-विलास, सुख-दुःख के साथ वे लोग तो चले गए किंतु मुझे मानों सुदूर अतीत का साक्षी बनाकर यहीं छोड़ गए हैं।

२

जिन वृद्ध भिक्षु का उल्लेख पहले कर चुका हूँ उन्होंने दूसरे दिन प्रातःकाल उस स्थान पर नगर के मुख्य मुख्य व्यक्तियों को एकत्र किया। महाराज एवं राजपरिवार के अन्यान्य लोग भी आए थे। कुछ काल पर्यंत परस्पर वार्तालाप करने के अनंतर उन वृद्ध महोदय ने जनसमुदाय को संबोधित करते हुए कहा—

'तीस वर्ष पूर्व मैं अपनी जन्मभूमि मगध का परित्याग करके यहाँ आया था। बाल्यकाल में मैंने महाराज प्रियदर्शी को राजगृह के पथ पर देखा था किंतु वे सब बातें अब भली भाँति स्मरण नहीं हैं। जिस धर्म के प्रचार के निमित्त उन्होंने आजीवन प्रयत्न किया था और वृद्धावस्था में गिरिव्रज के वनों में वास करते थे वह धर्म उस समय अत्यंत समादृत था। पूर्व में प्राग्ज्योतिषपुर से लेकर पश्चिम में कपिशा तक और उत्तर में खस देश से लेकर दक्षिण में समुद्र तक उस धर्म का व्यापक प्रभाव था। उनकी चेष्टा से धर्मज्ञान की जो प्रबल आकांक्षा सिंधु से लेकर ब्रह्मपुत्र पर्यंत के सर्वसामान्य देश

वासियों में अदम्य भाव से जाग्रत हुई थी उसी के कारण बीस वर्ष की अवस्था में मैंने प्रव्रज्या ग्रहण की थी। धर्माशोक की मृत्यु के अनंतर दशरथ, संप्रति, शालिशुक इत्यादि राजाओं ने यत्नपूर्वक प्रतिष्ठित उनके धर्म की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाए रखा। पश्चिमोत्तर गांधार, उद्यान, कपिशा, वाह्लीक इत्यादि प्रदेशों में इस धर्म का इतना अधिक उत्कर्ष हुआ था कि यवन विजेता गण भी आ-आकर भगवान तथागत के धर्म में दीक्षित होते थे। कुछ वर्ष पूर्व जिन यवन महाराज ने अंतर्वेद को पारकर साकेत को घेर लिया था, एक सौ वर्ष हुए, उनके पूर्वज स्वर्गीय चंद्रगुप्त मौर्य के श्वसुरवंश के अधीन रहकर वाह्लीक और कपिशा का शासन किया करते थे। जो अंतियोक सप्तसिंधु का विजय करने की अभिलाषा लेकर आए थे और सौभगियसेन द्वारा पाँच सौ हाथी पाकर अपने को बड़ा भाग्यशाली समझ बैठे थे उनके समय में ही ऐरण के पारदगण एवं वाह्लीक के विद्रोही यवनों ने स्वाधीनता की घोषणा कर दी थी। क्रमशः शकों के दबाव के कारण इन्हें पूर्व की ओर हटने के लिये बाध्य होना पड़ा था। वाह्लीक में यवन राज्य का अभ्युदय होने के साथ साथ गांधार और उद्यान के मौर्य साम्राज्य की मर्यादा घटने लगी। यहीं से मौर्य साम्राज्य और सद्धर्म की अवनति का सूत्रपात होता है। बाल्यावस्था में मैं हिरण्यवहा के तट पर पाषाण-निर्मित कुक्कुटपाद विहार में वास करता था। श्रमणाचार्य गण उस समय ऐरण, बाविरुक्ष, मिस्र एवं यवन द्वीप-समूह तक परिभ्रमण किया करते थे तथा प्राच्य एवं पाश्चात्य जगत् में सद्धर्म की महिमा का प्रचार होता था। नगर में

प्रतिदिन महोत्सव होता रहता था। सद्धर्म के उत्कर्ष के वैसे दिन जान पड़ता है फिर कभी नहीं आएँगे। धर्म की ऐसी दुरवस्था पहले नहीं थी। इसी को बताने के लिये मैंने एक सौ वर्ष पहले की कथा सुनाई है। उस समय श्रमण के दर्शन होने पर बालक-वृद्ध, उच्च-नीच, सभी नत-मस्तक हो जाया करते थे। पश्चिम में नगरहार, पुरुषपुर तथा तक्षशिला से, दक्षिण में उज्जयिनी एवं विदिशा से और पूर्व में चंपा, पुलिंद प्रभृति स्थानों से शिक्षार्थीगण पाटलिपुत्र आया करते थे। उन लोगों के साथ युवावस्था में मैंने कपोतिक, पारावत, कुक्कुटपाद, महाकाश्यपीय, महासांघिक आदि विहारों में ज्ञानार्जन किया है। उस समय जो श्रमण और भिक्षु प्रवास के निमित्त प्रस्थान किया करते थे उन्हें अंधकाराच्छन्न गहन वनमार्ग का अनुसरण नहीं करना पड़ता था, प्रत्युत वंगदेश से लेकर सिंधु देश तक का राजपथ उनके लिये उन्मुक्त था। यह कोरी कल्पना नहीं है। जो ब्राह्मण धर्माशोक के शासन-काल में राजभय के कारण यज्ञपशुओं की बलि देने से विरत हो चुके थे, जिन्हें प्रियदर्शी ने देवपद से च्युत कर दिया था, वे धीरे धीरे सोमशर्म्मा, शतधन्वा आदि हीनबल राजाओं के शासन में पुनः सिर उठाने लगे। मौर्य साम्राज्य के ध्वंस के पहले ही सेना में अहिच्छत्र का मित्र उपाधिधारी शुंग वंश अत्यंत प्रबल हो उठा था। अंतर्वेद के उत्तर में प्राचीन अहिच्छत्र नगरी ब्राह्मणों का केंद्र थी। परंपरा से सुनता आ रहा हूँ कि अहिच्छत्र नगर अथवा मंडल में वैदिक ब्राह्मणों का प्रभाव अक्षुण्ण रूप में बना हुआ है और भगवान तथागत के धर्म की वहाँ कोई पूछ नहीं है। शुंग वंश ब्राह्मणों का

शिष्य और सद्धर्म का विरोधी है। जिस दिन पाटलिपुत्र के नगर-प्राकार के बाहर विश्वासघातक पुष्यमित्र ने सैन्य-प्रदर्शन के बहाने अंतिम मौर्य राजा बृहद्रथ की हत्या की थी उसी दिन भिक्षुओं और यतियों ने कह दिया था कि सद्धर्म के अच्छे दिन बीत गए, दुर्दिन आ रहे हैं। कौन जानता था कि दस वर्षों के भीतर ही मौर्य साम्राज्य के साथ-साथ मागध संघ का भी लोप हो जायगा ? बृहद्रथ की मृत्यु के बाद थोड़े दिनों में ही दुष्ट ब्राह्मणों के बहकावे में आकर नागरिकों ने अपनी बुद्धि खो दी। जिन नागरिकों की उन्नति और शिक्षा के निमित्त हम लोग जीवन-यापन कर रहे हैं वे ही हमारा विनाश करने के लिये उद्यत हो गए। जिस कारण से मैंने मातृभूमि का त्याग कर, पुण्यक्षेत्र मगध का त्याग कर, तुम लोगों के पास महाकोशल के अरण्य में आश्रय ग्रहण किया है उसी कारण से नगरवासी एक भिक्षु ने भगवान तथागत का भिक्षापात्र लेकर पुरुषपुर में आश्रय लिया था। शाक्य राजपुत्र का उष्णीष कहाँ गया, इसका कोई पता नहीं। यत्न-पूर्वक सँजोया हुआ बुद्धदेव का भस्मावशेष पाटलिपुत्र के राजपथ की धूलि में मिल चुका है। कपोतिक संघाराम के महास्थविर का कटा हुआ शिर कील ठोंककर नगर के दक्षिणी द्वार पर लटका दिया गया है।

'मगध से सद्धर्म का, तथागत का, नाम लुप्त हो चुका है। जो लोग अब भी भगवान बुद्ध का नाम स्मरण करते हैं, जिन्हें सद्धर्म का दशशील अभी तक विस्मृत नहीं हुआ है, भिक्षुओं और श्रवणों में

जिनका भक्तिभाव अभी तक बना हुआ है, वे भी प्रकाश्य रूप से ब्राह्मण धर्म के अनुयायी हैं। सद्धर्म का लोप होने के साथ स्तूप, गर्भ-चैत्य, विहार, संघाराम इत्यादि का भी लोप हो रहा है। उपासक-उपासिकाओं, भिक्षु-भिक्षुणियों, स्थविर-स्थविराओं की संख्या क्रमशः घटते घटते समाप्तप्राय हो चुकी है। तथागत के धर्म को साधारण जनता धीरे धीरे भूलती जा रही है। जिन्हें उसका ज्ञान है वे भी मंदिरों, विहारों आदि के अभाव में यथारीति उपासना नहीं कर पाते। मथुरा से लेकर पाटलिपुत्र तक तथा श्रावस्ती से लेकर विदिशा तक के बीच बौद्ध मंदिरों और विहारों का कोई चिह्न तक शेष नहीं है। मैंने बीस वर्ष पर्यंत प्रयत्न करके इस नगर में विदिशा वाले सारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन के भस्मस्तूप के अनुरूप एक स्तूप की प्रतिष्ठापना के लिये द्रव्य संग्रह किया है। हम लोगों की संख्या में इतना ह्रास हो गया है कि एक स्तूप के निर्माण के निमित्त आवश्यक अर्थ का संग्रह करने के लिये मुझे पाटलिपुत्र से लेकर विदिशा तक के समस्त नागरिकों से सहायता की प्रार्थना करनी पड़ी है। पुष्यमित्र के अत्याचार के कारण मगध का परित्याग करके जिस समय मैंने महा-कोशल में आश्रय ग्रहण किया था उस समय तुम लोगों के वर्तमान महाराज के पिता अगराजु सिंहासन पर विराजमान थे। चिरकाल से यह राजवंश भगवान तथागत की वाणी पर आस्था रखता आया है और सद्धर्म के इस दारुण दुर्दिन में भी उसपर उसका विश्वास अव्याहत रूप से अटल है। चारों ओर के उत्पीड़ितों और सद्धर्म के प्रति वस्तुतः आस्था रखनेवालों के इस एकमात्र आश्रयस्थल में इतने दिनों

के उपरांत स्तूप एवं मंदिर के निर्माण का सुयोग घटित हुआ है। सुना है, सद्धर्म के अनुयायी मथुरा में एक स्तूप का निर्माण कर रहे हैं। तुम्हारे महाराज धनभूति मथुरावासियों की भी द्रव्य से सहायता कर रहे हैं और उस सहायता द्वारा स्तूप की वेष्टनी के कतिपय स्तंभों का निर्माण हो रहा है। महाराज के अनुग्रह से तुम लोगों के स्तूप के लिये चारों ओर तोरणों का निर्माण होगा। शेषांश का व्यय-भार सद्धर्म में निष्ठा रखनेवाले अन्यान्य जन वहन करेंगे। मुझे विश्वास है कि सद्धर्म का पुनरुत्थान और ब्राह्मणधर्म का पतन होगा। जो द्रव्यराशि संगृहीत हुई है उसके द्वारा निर्मित गगनस्पर्शी स्तूप जब तक आकाश में सूर्यचंद्र रहेंगे, सद्धर्म की उन्नति के साक्षी रूप में विराजमान रहेगा।'

इसी समय राजपथ पर नगर की ओर धूल उठने लगी और थोड़ी देर के उपरांत एक अश्वारोही वेगपूर्वक हम लोगों की ओर आता दिखाई पड़ा। निकट आने पर ज्ञात हुआ कि कोई नगररक्षक है जो नगर में पश्चिम देशवासी कतिपय संभ्रांत व्यक्तियों के आगमन का समाचार देने आया है। महाराज और उपर्युक्त वृद्ध भिक्षु समाचार मिलते ही नगर को वापस चले गए। दिन चढ़ने के साथ साथ नगर के उस बाह्य प्रदेश से लोग प्रस्थान करने लगे और मध्याह्न होते होते वह स्थान जनशून्य हो गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल महाराज धनभूति, वृद्ध धर्मयाजक और कतिपय प्रमुख नागरिक अभिनव वेशभूषाधारी कुछ विदेशियों को साथ

लेकर उस स्थल पर उपस्थित हुए जहाँ शिलाएँ एकत्र की गई थीं। इससे पूर्व मैंने उस जाति के मनुष्यों को नहीं देखा था। यवनों के समागम से जिस समय भारतवर्ष में समस्त विषयों में परिवर्त्तन घटित हो रहा था उस समय मैं पर्वत के तलप्रदेश में अर्द्धजाग्रत अवस्था में पड़ा हुआ था। उनके बारे में मैंने बाद में जाना। उस दिन यवनों को पहले पहल देखकर मुझमें जो विचार उठे थे उन्हें सुना रहा हूँ। दरिद्रता से पीड़ित होने पर भी जैसे लावण्य छिपता नहीं, राख से ढकी होने पर भी जैसे अग्नि का अस्तित्व भासित हो जाता है, उसी प्रकार भारतीय परिच्छद और भाषा का व्यवहार करनेवाले नागरिकों के बीच यह स्पष्ट बोध होता था कि वे विदेशी हैं। उनके कपड़े शीतप्रधान देश वाले थे। गांधार एवं मद्र देश में व्यवहृत होनेवाले ऊन के बने जो वस्त्र उन्होंने पहन रखे थे वे अत्यंत मलिन और दुर्गंधित थे। दिन के पहले प्रहर में जब धूप और गरमी कड़ी होने लगी और वे पसीने से भीग गए तब अपनी दुर्गंध की आशंका से वे महाराज के पास से दूर हट गए। उनके नाम भी विलक्षण थे, यथा—किलिकीय माखेता, अलसद्वासी लियोनात, उद्यानक थेदोर और कपिशावासी आर्त्तिमिदर। बाद में ज्ञात हुआ कि अलसद्द में साकेतविजयी यवनराज मेनंद्र का जन्म हुआ था। इन लोगों में उत्खनन और तक्षण कला के संबंध में आलोचना-प्रत्यालोचना हुआ करती थी जिससे मैंने भारतीय और पाश्चात्य शिल्प शास्त्र की सामान्य जानकारी प्राप्त की। आगे चलकर यथाप्रसंग इसकी चर्चा करूँगा।

के उपरांत स्तूप एवं मंदिर के निर्माण का सुयोग घटित हुआ है। सुना है, सद्धर्म के अनुयायी मथुरा में एक स्तूप का निर्माण कर रहे हैं। तुम्हारे महाराज धनभूति मथुरावासियों की भी द्रव्य से सहायता कर रहे हैं और उस सहायता द्वारा स्तूप की वेष्टनी के कतिपय स्तंभों का निर्माण हो रहा है। महाराज के अनुग्रह से तुम लोगों के स्तूप के लिये चारों ओर तोरणों का निर्माण होगा। शेषांश का व्यय-भार सद्धर्म में निष्ठा रखनेवाले अन्यान्य जन वहन करेंगे। मुझे विश्वास है कि सद्धर्म का पुनरुत्थान और ब्राह्मणधर्म का पतन होगा। जो द्रव्यराशि संगृहीत हुई है उसके द्वारा निर्मित गगनस्पर्शी स्तूप जब तक आकाश में सूर्यचंद्र रहेंगे, सद्धर्म की उन्नति के साक्षी रूप में विराजमान रहेगा।'

इसी समय राजपथ पर नगर की ओर धूल उठने लगी और थोड़ी देर के उपरांत एक अश्वारोही वेगपूर्वक हम लोगों की ओर आता दिखाई पड़ा। निकट आने पर ज्ञात हुआ कि कोई नगररक्षक है जो नगर में पश्चिम देशवासी कतिपय संभ्रांत व्यक्तियों के आगमन का समाचार देने आया है। महाराज और उपर्युक्त वृद्ध भिक्षु समाचार मिलते ही नगर को वापस चले गए। दिन चढ़ने के साथ साथ नगर के उस बाह्य प्रदेश से लोग प्रस्थान करने लगे और मध्याह्न होते होते वह स्थान जनशून्य हो गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल महाराज धनभूति, वृद्ध धर्मयाजक और कतिपय प्रमुख नागरिक अभिनव वेशभूषाधारी कुछ विदेशियों को साथ

लेकर उस स्थल पर उपस्थित हुए जहाँ शिलाएँ एकत्र की गई थीं। इससे पूर्व मैंने उस जाति के मनुष्यों को नहीं देखा था। यवनों के समागम से जिस समय भारतवर्ष में समस्त विषयों में परिवर्तन घटित हो रहा था उस समय मैं पर्वत के तलप्रदेश में अर्द्धजाग्रत अवस्था में पड़ा हुआ था। उनके बारे में मैंने बाद में जाना। उस दिन यवनों को पहले पहल देखकर मुझमें जो विचार उठे थे उन्हें सुना रहा हूँ। दरिद्रता से पीड़ित होने पर भी जैसे लावण्य छिपता नहीं, राख से ढकी होने पर भी जैसे अग्नि का अस्तित्व भासित हो जाता है, उसी प्रकार भारतीय परिच्छद और भाषा का व्यवहार करनेवाले नागरिकों के बीच यह स्पष्ट बोध होता था कि वे विदेशी हैं। उनके कपड़े शीतप्रधान देश वाले थे। गांधार एवं मद्र देश में व्यवहृत होनेवाले ऊन के बने जो वस्त्र उन्होंने पहन रखे थे वे अत्यंत मलिन और दुर्गंधित थे। दिन के पहले प्रहर में जब धूप और गरमी कड़ी होने लगी और वे पसीने से भीग गए तब अपनी दुर्गंध की आशंका से वे महाराज के पास से दूर हट गए। उनके नाम भी विलक्षण थे, यथा—किलिकीय माखेता, अलसद्वासी लियोनात, उद्यानक थेदोर और कपिशावासी आर्चिमिदर। बाद में ज्ञात हुआ कि अलसद्द में साकेतविजयी यवनराज मेनंद्र का जन्म हुआ था। इन लोगों में उत्खनन और तक्षण कला के संबंध में आलोचना-प्रत्यालोचना हुआ करती थी जिससे मैंने भारतीय और पाश्चात्य शिल्प शास्त्र की सामान्य जानकारी प्राप्त की। आगे चलकर यथाप्रसंग इसकी चर्चा करूँगा।

महाराज ने आकर अपनी चिरपोषित अभिलाषा के अनुसार उस प्रदेश में प्रवहमान निर्झरिणी के तट पर स्तूप निर्माण करने का मंतव्य व्यक्त किया। वृद्ध धर्मयाजक ने उनके प्रस्ताव का समर्थन किया। तत्पश्चात् अभ्यागत यवनों से परामर्श करके नदी से थोड़ी ही दूर हटकर स्तूप का निर्माण करना निश्चित हुआ। इसी समय एक एक दो दो करके नगर से अनेक मुंडितशिर चीवरधारी भिक्षु वहाँ आकर एकत्र हुए। ये भिक्षुगण स्थविर धर्मयाजक के पीछे श्रेणीबद्ध होकर खड़े हो गए। नगर से मँगाए गए ताजे फूलों का ढेर वहाँ रख दिया गया। महाराज, महारानी तथा राजकुमार बोधपाल ने धर्मयाजक के निर्देशानुसार पुष्पांजलि अर्पित कर पृथ्वी का पूजन किया। राजपरिवार द्वारा उत्सर्ग की हुई पुष्पराशि के ऊपर समवेत जनसमुदाय ने भी पुष्पांजलि चढ़ाई और क्रमशः पुष्पों का एक छोटा-मोटा स्तूप खड़ा हो गया। तदनंतर वृद्ध धर्मयाजक ने उच्च स्वर से कहा कि भगवान तथागत की वाणी के अनुसार स्तूप और गर्भचैत्य अर्द्धवृत्ताकार होंगे एवं उनकी ऊँचाई नैमदीर्घा के अनुसार होगी। इसके पश्चात् धर्मयाजकों ने उस पुष्पराशि के पास पत्रों-पुष्पों द्वारा गोलाकार वेष्टनी का निर्देश कर दिया तथा पुष्प, चंदन और जल से स्तूप की अर्चना की गई। महाराज ने धर्मयाजकों सहित सात बार स्तूप की प्रदक्षिणा की। प्रखर सूर्यताप सहता हुआ जन-समुदाय नगर की ओर लौटा। उसी दिन संध्या समय अंधकार होने के पूर्व दो भीत-चकित मनुष्य हमारे पास आए। ये विदेशी नहीं, अपितु भारतीय थे, किंतु वन्य पशुओं की भाँति अंधकार में विचरण

कर रहे थे। जान पड़ता था, मानव जाति के अधिकारों से वंचित होकर उन्होंने निशाचरों की वृत्ति ग्रहण की है। वे ब्राह्मण थे, ईर्ष्या से उनकी काया काँप रही थी, क्रोध से उनके नेत्र रक्तवर्ण थे और हम लोगों को देखकर जैसे वे किसी प्रकार भी आत्मसंवरण नहीं कर पा रहे थे। उनकी चेष्टा और वार्तालाप से यह प्रकट हो रहा था कि उनकी समस्त आशा-अभिलाषा, सुख-संपदा नष्ट हो गई है। उनके अच्छे दिन फिरने की जो कुछ भी आशा शेष थी वह मानों इन प्रस्तर-शिलाओं के आ जाने से एकदम जाती रही। असहाय पड़ी हुई शिलाओं के ऊपर थूक-थूककर और उन्हें ठोकर मार-मारकर वे अपनी मनुष्यहीनता का परिचय देने लगे। उन लोगों की बातचीत से मैंने जाना कि बहुत वर्षों पूर्व इस प्रदेश में ब्राह्मणों का बड़ा व्यापक प्रभाव था। प्रियदर्शी के राज्यकाल में ब्राह्मणों की मर्यादा को पहला धक्का लगा और इसके पश्चात् ब्राह्मणवर्ग फिर कभी अपना पूर्वगौरव न पा सका। पुष्यमित्र के राज्यकाल में बौद्धधर्म का ह्रास अवश्य हुआ था, किंतु वह अल्पकालीन था। पाटलिपुत्र-वासी वृद्ध धर्मयाजक के आगमन के उपरांत ब्राह्मणधर्म का गौरव पुनः तिरोहित हो गया। उन दोनों ने जितनी बार स्थविर धर्मयाजक का नाम लिया, उतनी ही बार भूमि पर थूका; मानों और किसी प्रकार वे अपनी घृणा व्यक्त नहीं कर पा रहे थे। कुछ काल के अनंतर दूर पर नगररक्षकों के पद-शब्द सुनकर वे अंधकार में लुप्त हो गए।

दूसरे दिन प्रातःकाल वे चारो यवन असंख्य श्रमिकों के साथ उस स्थान पर आए। श्रमिकवर्ग तीन भागों में विभक्त होकर अपने

कार्य में प्रवृत्त हो गया। एक भाग शिलाखंडों को छाया में रखने के लिये पर्णकुटी बनाने लगा, दूसरा भाग भूमि खोदने लगा और तीसरा भाग आकार-प्रकार के अनुसार शिलाखंडों को छाँटने लगा। उसी दिन अपराह्न में एक यवन ने मुलायम चर्मपत्र, मसि और लेखनी लेकर रेखांकन आरंभ किया। चित्रावली संपूर्ण होने पर स्थविर धर्मयाजक आकर उसका निरीक्षण करने लगे। यवनगण कोशल और उद्यान की भाषाओं को मिला-जुलाकर अपना मनोगत उन्हें समझाने की यथा-साध्य चेष्टा करने लगे। क्रमशः चित्रावली पर महाराज की स्वीकृति मिल गई। उस समय यह नहीं जानता था कि हमारी ही खंडित काया सैकड़ों में विभक्त होकर, प्रखर अस्त्रों का सहस्राधिक आघात सहन करके जिस रूप में विन्यस्त होनेवाली है, यह उसी का चित्र है। यथा-समय पर्णशाला बनकर तैयार हो गई और हमारा उत्पीड़न आरंभ हुआ। हमारे प्रस्तर-शरीर में यदि रक्त होता तो निश्चय ही उसके प्रवाह से कोशल से लेकर चोलमंडल तक का समग्र भूभाग प्लावित होकर समुद्र के गर्भ में लीन हो जाता। पत्थर में यदि श्रवणस्पर्शी आर्त्तनाद करने की क्षमता होती तो हिमालय के भी पैर काँपने लगते, आर्यावर्त्त से लेकर दक्षिणापथ तक का समस्त भूभाग ध्वनित हो उठता, और तुम लोगों ने बहुत पहले जान लिया होता कि पत्थर में भी वेदना अनुभव करने की शक्ति होती है। जीवन के आरंभ में समुद्र-वेला में जिन भिन्न भिन्न बालुकाओं के साथ मिलित हुआ था, जिनके साथ लाखों वर्ष पर्यंत समुद्रगर्भ तथा पर्वत के तलप्रदेश में वास किया था, उनमें से न जाने कितने सहस्र

कण तीक्ष्ण लोहास्त्रों के आघात से छिन्न हो गए। वे अब भी उसी प्रदेश में वास कर रहे हैं। वह प्रदेश अब अत्यंत हरी-भरी उर्वरा भूमि में परिणत हो गया है, वह नदी सूख गई है और वहाँ की जलधारा दूसरे मार्ग से प्रवाहित होने लगी है। कोल और मुंडा जाति के कृषक आज भी हल चलाते समय हमारे उत्पीड़कों को शाप दिया करते हैं क्योंकि उन्हीं के कारण दरिद्र पहाड़ी जाति के हल शीघ्र घिस जाया करते हैं।

पीड़ा दूर होने पर देखता क्या हूँ कि छोटे-बड़े पत्थरों की श्रेणी समान अंतर से स्थापित कर दी गई है। उन्हीं में से स्तंभ, सूची, आलंबन, तोरण इत्यादि जो कुछ यहाँ देख रहे हो वह सब प्रस्तुत किया जा रहा है और उन्हें केवल अपने अपने स्थान पर जुड़ाना मात्र शेष रह गया है। दूर पर रक्तवर्ण प्रस्तर से निर्मित होनेवाला अर्द्धवृत्ताकार स्तूप प्रायः पूरा हो चला है। नगर से प्रति दिन नागरिकों और नागरिकाओं का दल यवन शिल्पियों का तक्षण-कौशल देखने आता था। छात्रगण विद्यालय छोड़-छोड़कर, अन्य बालवृंद अपना-अपना घर छोड़कर सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त पर्यंत उस पर्णकुटी के भीतर बैठे रहते। संध्या समय संपन्न विलासप्रिय नागरिक रथों पर बैठकर, अल्पवित्त झुंड के झुंड पैदल चलकर, नवनिर्मित चित्रांकन का अवलोकन करने आते थे। वे मिली-जुली भाषा में यवन-शिल्पियों से वार्तालाप किया करते थे। उनकी बातचीत से जो कुछ मैं समझ सका उसे सुनाता हूँ—

नागरिक गण कहते थे—'पारसीकों से मेल-जोल होने के पूर्व इस देश में मंदिर अथवा स्तूप बनाने की न तो प्रथा थी और न आव-

श्यकता, क्योंकि भारतीय पद्धति के अनुसार देवपूजा करने के लिये मंदिर या स्तूप का कोई प्रयोजन नहीं था। ब्राह्मण लोग पर्वत पर, वन में अथवा नदी तट पर यज्ञ किया करते थे; उन्मुक्त आकाश ही उनका मंदिर था। जब कपिशा से लेकर वाह्लीक और उद्यान तक की समस्त भूमि पर उनका अधिकार हुआ तब उनके प्रभाव से इस देश में भी देवालयों का निर्माण आरंभ हुआ। उसी समय मूलस्थानपुर में मित्रदेव का तथा वरुण पर्वत पर चंद्रदेव का मंदिर बना। अवश्य ही, इसके बहुत पहले से इस देश में शिल्पकला व्यापक भाव से प्रचलित थी, किंतु शिल्पी वर्ग अपना रचना-कौशल प्राचीर, स्तंभ, दुर्ग-प्राकार इत्यादि के शोभा-संवर्द्धन में नियोजित किया करता था। आज भी वही प्राचीन भारतीय शिल्पकला स्तूप और मंदिरों की वेष्टनी में व्यवहृत होती है। पारसीकों के द्वारा इस देश में बवेरु तथा अन्यान्य देशों की कला आई। परंतु भारतीय शिल्पियों ने कभी भी अमिश्र रूप में विदेशी कलाओं का अवलंबन नहीं किया। जब जब भारतवासियों को विदेशी जातियों के समक्ष झुकना पड़ा तब तब उन्हें बर्बरता की अधीनता में जाना पड़ा, किंतु वे जातियाँ यदि सभ्य और शिक्षित रहीं तो परस्पर शिक्षा और ज्ञान का आदान-प्रदान भी हुआ।'

इसके उत्तर में यवनों ने कहा था—'हम लोग पत्थर में मनुष्य की हूबहू आकृति निर्मित कर सकते हैं। हमने यह कला मिस्राइम देश से सीखी है। इसके पहले इतनी कुशलता के साथ पत्थर में जीवित मनुष्य की रूपाकृति बनाने में कोई जाति समर्थ नहीं हुई थी। मिस्र अथवा मिस्राइम देश के निवासी भी मूर्तिकला में इतने दक्ष नहीं हो सके थे।'

किलिकीया-वासी मार्खेता ने कहा था—'यवन द्वीपसमूह और मिस्र देश के मध्यवर्ती समुद्रतट पर स्थित किलिकीया प्रदेश का मैं निवासी हूँ। युवावस्था में मैंने मिस्राइम-वासियों तथा आदिम यवन-वासियों, दोनों जातियों के दर्शन किए हैं क्योंकि स्थलमार्ग से वणिकों के जो दल निगम-बद्ध होकर उभय देशों के बीच वाणिज्य के उद्देश्य से आवागमन किया करते थे उनकी यात्रा का अधिकांश पथ मेरी ही जन्मभूमि में पड़ता था। इसके अतिरिक्त किलिकीया प्रदेश में भी सहस्रों यवन निवास करते थे। उनमें मेरे पूर्वजों का स्थान प्रमुख था। इसलिये वाह्लीक और गांधार के यवनों की अपेक्षा आदिम यवनदेश-वासी अपनी जाति के संबंध में मेरी जानकारी अपेक्षाकृत अधिक है। मैंने सुना था कि अलिकसुंदर के सहयात्रियों ने स्वदेश लौटकर जो वर्णन किया था उसका अधिकांश निर्मूल था। अपने देश में मैंने सुना था कि पत्थर की खुदाई से अनभिज्ञ होने के कारण भारतवासी लकड़ी के भवनों में रहते हैं और अपने आवास-गृहों को कारुकार्यों से शोभित रखते हैं, किंतु इस देश में आकर मैंने देखा कि यहाँ पत्थर के बने हुए अत्यंत प्राचीन नगर और भवन वर्तमान हैं एवं यहाँ के निवासी प्रस्तर-तक्षण की कला में विलक्षण रूप से दक्ष हैं। पंचनद के निवासी प्रस्तर का अभाव न होने पर भी काष्ठ की खुदाई में अत्यंत कुशल हैं और उनमें से अधिकांश अत्यंत कलापूर्ण ढंग से निर्मित काष्ठावासों में निवास करते हैं।'

नागरिकों ने कहा—'पारसीक आधिपत्य के समय वाह्लीक से लेकर पंचनद तक के भूभाग में ईरान की कला का सर्वश्रेष्ठ अंश

ग्रहण कर लिया गया था और क्रमशः वह समस्त भारतवर्ष में व्याप्त हो गया। जो स्तूप निर्मित हो रहा है उसके चारो तोरण-स्तंभों के ऊपर जो सिंह बनाए गए हैं वे पारसीक शिल्प-कला के प्रभाव के द्योतक हैं।'

किलिर्कीय माखेता ने इसपर सहमति व्यक्त करते हुए कहा—'स्तंभों के ऊपर जीव-जंतुओं की आकृति बनाने का प्रचलन प्राचीन जातियों में नहीं था। प्राचीन मिस्राइम - निवासी भी स्तंभों के ऊपर प्रस्फुटित अथवा प्रस्फुटोन्मुख कमल की आकृति बनाया करते थे।'

अलसद्-देशीय लियोनात बोले—'ऐसा अनुमान होता है कि प्राचीन भारतवर्ष में चौपहल या अठपहल स्तंभों का ही व्यवहार होता था क्योंकि प्राचीन भवनों में मात्र इसी प्रकार के स्तंभ दिखाई पड़ते हैं, गोलाकार स्तंभों के दर्शन कठिनाई से होते हैं। शकों द्वारा प्रताड़ित होकर वाह्लीक-वासी यवनगण जिस समय पूर्व दिशा की ओर अग्रसर हुए अर्थात् जिस समय प्राचीन वाह्लीक राज्य सर्वदा के लिये भारतवर्ष के हाथ से जाता रहा उसी समय से भारतवर्ष में यवन - शिल्पकला का प्रवेश दिखाई पड़ता है। किंतु अभी भी यह कला सुवास्तु नदी के दक्षिणी तट की ओर प्रविष्ट नहीं हो पाई है।'

कोई विशिष्ट नागरिक बोले—'मेरे पिता ने मयूरों का विक्रय करने के उद्देश्य से नौकारूढ़ होकर आनर्त देश से बवेरु पर्यंत की यात्रा की थी। इस वाणिज्य-यात्रा में धूप और गंधद्रव्य का संग्रह करने के उद्देश्य से वे अरब देश को पारकर मिस्राइम के दक्षिण में अवस्थित राक्षसों के प्रदेश तक गए थे। वहाँ के निवासी दाक्षिणात्य लोगों की भाँति अत्यधिक कृष्णवर्ण एवं

विकटाकार थे ।, मिश्राइम निवासी इस देश को 'पू-आहित' कहते हैं जिसका रूपांतर भारतीय वणिकों ने 'पुण्य-नाम' किया है ।'

इसी प्रकार वार्तालाप करते दिन बीत जाता था। संध्या होने पर शिल्पी, श्रमिक तथा नागरिक नगरों को लौट जाया करते थे। रात्रि में केवल रक्षकगण निर्मित प्रस्तरों की रक्षा के लिये वहाँ रहा करते थे क्योंकि ब्राह्मण लोग ईर्ष्यावश शिल्पियों के घोर परिश्रम को नष्ट-भ्रष्ट करने की एक बार चेष्टा कर चुके थे।

३

शिल्पियों का कार्य समाप्त हो गया। कितने दिनों में समाप्त हुआ, यह नहीं जानता। तुम लोगों के हिसाब से संभवतः बहुत दिन लगे। एक के बाद दूसरा दिन आता और बीत जाता था; प्रतिदिन श्रमिक लोग नगर से आया करते और संध्या होने पर पुनः लौट जाया करते थे तथा हमारी सुरक्षा का भार रक्षकों को सँभालना पड़ता था। इस प्रकार कितने दिन आए और चले गए, इसे यदि बता पाता तो उस राज्य के इतिहास का एक पूरा पृष्ठ ही सुना जाता। शिल्पियों का कार्य समाप्त होने पर श्रमिकों की संख्या क्रमशः बढ़ने लगी। गढ़े हुए पत्थर पर्णशाला से बाहर लाकर यथास्थान रख दिए गए। तुम लोग कहा करते हो कि दो सहस्र वर्ष पूर्व इतने बड़े बड़े पत्थरों को मनुष्य किस प्रकार इधर-उधर किया करते थे, इसे सोचकर बड़ा विस्मय होता है, किंतु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। पर्णशालाओं से लेकर स्तूप-निर्माण के निमित्त निर्दिष्ट स्थान तक पाँच हाथ चौड़ा मार्ग बनाया गया था। उस मार्ग की ईंटें आज भी वहाँ पड़ी हुई हैं। जिस प्रकार के शकटों

पर हम लोग पर्वत के तलप्रदेश से नगर तक लाए गए थे उसी प्रकार के शकटों पर चढ़ाकर पर्णशालाओं से स्तूप-क्षेत्र तक लाए गए। सैकड़ों श्रमिकों ने एक साथ प्रयत्न करके हमें यथास्थान बैठाया था। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। इसकी व्याख्या सबको रुचेगी नहीं। निर्माण-कार्य संपूर्ण होने पर, खंड-खंड करके पत्थरों को यथा-स्थान जुड़ा देने पर, हम लोगों ने जो रूपाकार प्राप्त किया उसी का वर्णन करूँगा। स्थपति गण जिस समय भवनों का निर्माण करते हैं उस समय उनके कार्य में ऐसी कोई वस्तु नहीं होती जो आँखों को प्रिय लगे, किंतु भवन निर्मित हो जाने पर निःसंदिग्ध रूप से आनंददायक लगता है।

यथास्थान अर्द्धवृत्ताकार स्तूप तैयार हो गया; समान अंतर पर, समान भाव से, समान प्रस्तर खंडों द्वारा एक सौ हाथ ऊँचा स्तूप प्रस्तुत हुआ। अंततः पत्थरों के कुछ खंड मात्र वहाँ पड़े रह गए; बचे हुए पत्थर सहस्र वर्षों के दीर्घ काल में निकटवर्ती ग्रामवासी अपने उपयोग के लिये उठा ले गए और अब तो वहाँ से उनका संभवतः बिल-कुल लोप हो गया है। संप्रति उन रक्तवर्ण चिकने प्रस्तरों से निर्मित अर्द्ध-वृत्ताकार विशाल स्तूप के स्थान पर क्या दृष्टिगोचर होता है ? स्तूप का क्षेत्र वृत्ताकार होने के कारण उसकी वेष्टनी भी वृत्ताकार थी। उससे सटकर पाँच हाथ चौड़ा परिक्रमण बनाया गया था। यह परिक्रमण-पथ भी वृत्ताकार था और वक्राकार प्रस्तर खंडों की योजना करके बनाया गया था। 'परिक्रमण-पथ' से संभवतः उसका वास्तविक आशय स्पष्ट न हुआ होगा, क्योंकि कालप्रभाव से तीर्थयात्रियों की भाषा में भी

परिवर्त्तन हो गया है। तीर्थयात्रीगण आजकल भी परिक्रमण किया करते हैं। पूज्य व्यक्ति अथवा वस्तु की अर्चना के पूर्व अथवा पश्चात् प्रदक्षिणा करने की प्रथा आजकल भी तीर्थयात्रियों में वर्तमान है। यही 'परिक्रमण' है। पुण्यार्थी लोग पूर्व दिशा वाले तोरण से स्तूप-वेष्टनी में प्रवेश करके पहले पुष्पांजलि अर्पित किया करते थे, तत्पश्चात् तीन बार अथवा सात बार परिक्रमण-पथ पर प्रदक्षिणा करके पुनः स्तूप की अर्चना किया करते थे। स्तूप-निर्माण के समय से लेकर मुसलमानों के आगमन पर्यंत अर्चना की यही पद्धति प्रचलित थी। उसके बाद किसी ने स्तूप की अर्चना नहीं की। किंतु यह बहुत बाद की बात है। स्तूप-वेष्टनी के अनंतर तीन हाथ चौड़ा स्थान छूटा हुआ था जिसके पश्चात् पहली स्तंभ-श्रेणी थी। स्तंभ-श्रेणी के बीच समान अंतर पर चारो ओर चार तोरण बने हुए थे और प्रत्येक तोरण के संमुख एक-एक आवरण था। ये आवरण भी स्तंभ, सूची और आलंबन-सज्जा से युक्त थे। स्तूप के पूर्व की ओर जो तोरण था वही प्रधान तोरण समझा जाता था क्योंकि नगर भी स्तूप के पूर्व की ओर ही पड़ता था। तोरण दो स्तंभों पर आलंबित था एवं प्रत्येक स्तंभ एक ही प्रस्तर-खंड का बना हुआ था जिसमें चार अठपहले स्तंभों की समष्टि थी। स्तंभों के ऊपर चौपहले प्रस्तर-खंडों पर पत्र, पुष्प, पल्लव आदि के बीच दो बैठी हुई सिंह-मूर्तियाँ थीं। सिंहों की पीठ पर पुष्पमालाओं से शोभित चौपहले प्रस्तर-खंड थे जिनके ऊपर तोरण टिका हुआ था। समान अंतर पर तीन तोरण इसी प्रकार के चौपहले प्रस्तर-खंडों पर स्थापित थे। चारो सिंहों के पृष्ठदेश पर बने चौपहले शिलाखंडों पर प्रथम तोरण था जिसके

दोनों छोर गोलाकार थे और जिसमें अपनी पूँछों को कुंडलित किए हुए विस्फारित-मुख मकरों की आकृतियाँ बनी हुई थीं। मकरों के सामने दाहिनी ओर एक मंदिर और बाईं ओर एक स्तूप बना हुआ था। मंदिर के चारों ओर स्तंभों की पंक्ति थी और उसके शिखर पर पताका लहरा रही थी, बीच में पुष्पों से युक्त वेदी थी और द्वार पुष्प-मालाओं से सुशोभित था। स्तूप स्तंभ-वेष्टनी की दोहरी पंक्ति के बीच में था और इन पंक्तियों के बीच में परिक्रमण-पथ बनाया गया था। भीतर वाली स्तंभ-वेष्टनी में स्तूप के दोनों ओर बड़ी बड़ी पताकाएँ फहराती थीं। अर्द्धवृत्ताकार वह स्तूप पुष्प-मालाओं से सुसज्जित था। स्तूप के दोनों ओर बने मकरों की नासिका के अग्रभाग में स्तंभ वेष्टनी के संमुख फुल्ल कमल बने हुए थे। मंदिर और स्तूप के बीच का भाग हाथियों के झुंड से परिपूर्ण था। तोरण के बीच में एक बोधिवृक्ष बना हुआ था जिसके दोनों ओर दो हाथी अपने शुंडों में सनाल कमल लिए उसकी अर्चना कर रहे थे। प्रथम और द्वितीय तोरण के बीच जो स्थान रिक्त था उसमें छोटे छोटे ग्यारह स्तंभ बनाए गए थे जिनमें क्रम से एक चौपहला और उसके बाद एक अठपहला स्तंभ था। चौपहले स्तंभों के संमुख यक्षिणियों और अप्सराओं की मूर्तियाँ अंकित थीं। पहले तोरण के ऊपर दो चौपहले प्रस्तरखंड देकर उन्हीं पर दूसरे तोरण की स्थापना की गई थी। द्वितीय तोरण के अंत में भी पहले तोरण की भाँति मकर, स्तूप और मंदिर उत्कीर्ण थे। इस तोरण के मध्य में वेदिका के ऊपर कतिपय पल्लव थे जिनके दोनों ओर एक एक सिंह बने हुए थे। सिंहों के बीच

में समुत्फुल्ल एवं फुल्लोन्मुख पद्म-समूह की रचना की गई थी। इसके ऊपर तृतीय तोरण था जो चौहपले शिला-खंडों पर आधृत था। द्वितीय और तृतीय तोरण के बीच यथापूर्व छोटे छोटे स्तंभ बने थे, किंतु इन स्तंभों में कुछ विशेषताएँ भी थीं। जिस समय ये स्तंभ बनाए जा रहे थे उसी समय पंक्ति-विन्यास में उनके स्थान-निर्देश के निमित्त शिल्पियों ने प्रत्येक स्तंभ पर वर्णमाला का एक एक अक्षर आँक दिया था। नगर-निवासी जिस समय शिलाखंडों का तक्षणकार्य देखने आया करते थे उस समय इन स्तंभों पर नवीन ढंग के अक्षरों की आकृतियाँ देखकर उन्होंने इनके संबंध में जिज्ञासा की थी। शिल्पियों ने बताया था कि बहुत दिनों तक इस देश में वास करने के कारण हमें इस देश की लिपि का भी अभ्यास हो गया है और हम लोगों में यवनदेश की वर्णमाला का प्रचलन प्रायः उठ गया है। जिस लिपि का हम लोग व्यवहार किया करते थे वह गांधार और कपिशा इत्यादि देशों में प्रचलित है और भारतीय लिपि से उसका कोई साम्य नहीं है। यह दाहिनी ओर से आरंभ करके बाईं ओर लिखी जाती है और इसकी लेखन-प्रणाली भारतीय लेखन-प्रणाली की अपेक्षा सरल है। पारसीक लोगों ने जिस समय ईरान देशीय राजाओं के नेतृत्व में उत्तर-पश्चिम के प्रदेशों का विजय किया था उस समय उनके राजकीय कार्यालयों में व्यवहृत यह वर्णमाला भी उन प्रदेशों में प्रचलित हो गई थी। गांधार, कपिशा इत्यादि प्रदेशों में भी भारतीय वर्णमाला की भाँति वह बहु-व्यापक नहीं है। सबसे ऊपर वाले तोरण के मध्य भाग में फुल्ल

था जिसके दोनों पार्श्वों में खिले हुए शतदलों के ऊपर त्रिरत्न अंकित था। त्रिरत्न का आधा भाग मत्स्यपुच्छाकार था और उसके एक पार्श्व में सुसज्जित अश्वपृष्ठ पर श्वेत छत्र तथा चामरयुगल बने हुए थे। प्रत्येक तोरण के दाहिनी ओर वाले स्तंभ पर महाराज का वंश-परिचय उत्कीर्ण था—'शुंगराज गार्गीपुत्र विश्वदेव के पौत्र, गौतीपुत्र अगराजु के पुत्र, वात्सीपुत्र धनभूति ने यह तोरण और शिलाकर्म संपन्न कराया।'

पूर्व ओर के तोरण के दक्षिण पार्श्व वाले स्तंभ पर जो लिपि देख रहे हो वैसी ही लिपि दूसरी तोरणत्रयी में भी थी। दक्षिण ओर के तोरण के दोनों स्तंभों को हूणों ने आग लगाकर नष्ट कर दिया है। उसका वर्णन भी करूँगा, पर यह बहुत बाद की घटना है। शेष दोनों तोरणों के स्तंभों का खंडांश मात्र तुम लोगों ने पाया है। ये स्तंभ भी पूर्व ओर वाले स्तंभों की भाँति मस्तक ऊँचा किए खड़े थे और समझते थे कि हमारे ये उठे हुए मस्तक कभी भूमि का स्पर्श नहीं करेंगे। किंतु मुसलमानों के प्रहार, हूणों के अग्निदाह और ब्राह्मणों के पुनरुत्थान के कारण इन्हें भू-लुंठित होने को बाध्य होना पड़ा। पूरब ओर के तोरण के पास जो स्तंभ है उसे एक विदिशावासी श्रेष्ठि रेवतिमित्र की पत्नी चापदेवा ने दान किया था। रेवतिमित्र की पत्नी ने प्रत्येक तोरण के पास एक स्तंभ बनवाया था। इसी प्रकार जनसाधारण के संमिलित प्रयत्न से स्तूप-वेष्टनी के स्तंभ और सूची का निर्माण एवं यथास्थान उनकी स्थापना हुई थी। प्रत्येक व्यक्ति का नाम उसके द्वारा प्रदत्त वस्तु पर उत्कीर्ण था। आलंबन किसने प्रदान किया इसका

उल्लेख नहीं था। तथापि नगरवासियों के वार्तालाप से ज्ञात हुआ था कि आर्यावर्तवासी किसी विख्यात व्यक्ति ने आलंबन के निर्माण और यथास्थान उसके संयोजन का व्यय-भार वहन किया है, किंतु शुंगराज के भय से उसने अपना नाम प्रकट नहीं किया है। चापदेवा-प्रदत्त स्तंभ के एक पार्श्व में तीन हाथियों की पीठ पर स्थापित पादपीठ के ऊपर गरुड़ध्वजधारी एक अश्वारोही की मूर्ति थी; दूसरे पार्श्व में दो गणों पर आधृत पादपीठ के ऊपर तीन हाथी बने थे जिनमें मध्यवर्ती हाथी सबसे बड़ा था। प्रत्येक हाथी के कंधे पर अंकुशधारी हस्तिपक बैठा हुआ था। प्रत्येक स्तंभ के ऊपर वाले अंश में एक अर्द्धवृत्त बना था जिसके बीच में प्रस्फुटित पद्मार्द्ध की आकृति उत्कीर्ण थी। साधारणतः तोरण के पास वाली वेष्टनी का प्रथम स्तंभ इसी रूप में चित्रित होता था। अन्य स्तंभों के दोनों ओर एवं ऊपर तथा नीचे एक अर्द्धवृत्त और मध्य भाग में एक पूर्णवृत्त अंकित हुआ करता था जिनमें किसी में दृश्य तथा किसी में उत्फुल्ल अथवा फुल्लोन्मुख पद्म का अंकन होता था। शीर्षवर्त्ती अर्द्धवृत्त तथा मध्यवर्त्ती पूर्णवृत्त के बीच वाले व्यवधान में से किसी में फुल्ल कमल के ऊपर नाचती हुई अप्सरा, किसी में सनाल कमल, किसी में फलयुक्त आम्रपल्लव तथा किसी में पुष्पमालाएँ उत्कीर्ण थीं। दोनों स्तंभों के बीच वाले अवकाश में तीन-तीन सूचियाँ बनी थीं। एक एक सूचीत्रयी एक एक स्तंभयुग्म को सँभाले हुए थी। स्तंभों के पार्श्व में सूची के समान विद्ध होने के कारण ही संभवतः शिल्पियों ने पाषाण-वेष्टनी के इस अंश का नाम 'सूची' रखा था। प्रत्येक सूची के पार्श्व में एक एक पूर्णवृत्त अंकित था।

साधारणतः सूचियों पर निर्मित वृत्ताकृति में फुल्ल कमल के अंकन थे, तथापि कुछ सूचियों पर नाना प्रकार के दृश्य भी बने हुए थे।

इसके पश्चात् आलंबन था। यह नहीं ज्ञात हो सका कि उत्तर भारतवासी किस महापुरुष ने इस आलंबन का व्यय दिया था। आलंबन सबकी अपेक्षा सुंदर बन पड़ा था जो स्तूप-वेष्टनी वाले तथा तोरण के आवरण वाले स्तंभों पर स्थापित किया गया था। उसका शिरोभाग ईषत् गोलाकार तथा चिकना था। प्रत्येक पार्श्व में दो समानांतर रेखाओं के अंतर्गत ऊपर चतुर्भुजों की पंक्ति थी और नीचे पुष्पमालाओं की पंक्ति में एक घंटा झूल रहा था। इन दोनों के बीच वाले स्थान में मुख में पद्मपुष्प लिए हुए कहीं हाथी और कहीं मकर की वंकिम गति चित्रित की गई थी। अवशिष्ट स्थान पत्र, पुष्प, फल, सिंह, हस्ती, वानर इत्यादि नाना प्रकार के जीवों तथा चित्रों से शोभित था। आलंबन के किसी भाग में यद्यपि उसके दाता का परिचय उत्कीर्ण नहीं था, तथापि प्रत्येक चित्र के नीचे अथवा ऊपर उनका नाम अंकित था एवं जहाँ आलंबन समाप्त हुआ था वहाँ बैठे हुए सिंह की मूर्ति बनी थी।

स्तूप तथा स्तूप-वेष्टनी का निर्माण कार्य जितने दिन चलता रहा उतने दिनों तक यवन शिल्पियों ने राजपुरुषों, श्रमिकों अथवा नितांत परिचित व्यक्तियों के अतिरिक्त दूसरे किसी को वेष्टनी के भीतर प्रवेश करने का अधिकार नहीं दिया था। निर्माण कार्य समाप्त होने पर यवन शिल्पियों ने महाराज की सेवा में उपस्थित होकर संवाद दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल नागरिकों तथा नागरिकाओं द्वारा वह स्थान

आच्छन्न हो गया किंतु राजाज्ञा के अनुसार रक्षकों ने किसी को वेष्टनी के भीतर प्रवेश नहीं करने दिया। स्तूप-निर्माण के निमित्त बाँधे गए मंचक उस समय तक हटाए नहीं गए थे और न मिट्टी के वे स्तूप स्वच्छ हो सके थे जिन्हें भारी भारी तोरणों को ऊपर चढ़ाने के लिये बनाया गया था। भिन्न भिन्न आकार-आकृतियों के टूटे हुए प्रस्तर-खंड भी प्रदक्षिणा-पथ पर यत्र तत्र बिखरे हुए थे। परंतु अदम्य उत्साह से प्रेरित होकर वह विशाल जन-समुदाय पारावार-तरंगों की भाँति बारंबार उमड़कर मुट्ठी भर रक्षकों को आत्मसात् कर लेने का उपक्रम कर रहा था। हाथियों, रथों, ऊँटों और घोड़ों पर आरूढ़ नागरिक वेष्टनी के मध्य भाग तक जाने के लिये उतावले हो रहे थे। जन-समूह अत्यधिक हो जाने पर कोष्ठपाल से रक्षकों की संख्या में वृद्धि करने के लिये कहना पड़ा। जन-समूह हताश भाव से वेष्टनी के बहिर्भाग में खड़ा रहा। अदम्य उत्साह के वेग में मत्त जनता ने अपने वृद्ध धर्मयाजक का आना नहीं लक्ष्य किया। नगर से लेकर स्तूप-वेष्टनी तक का लंबा पथ जन-समुदाय का भेदन करते हुए अतिक्रमण करने के निमित्त आज उनमें भी जैसे नवीन बल का संचार हो गया था। उन्हें मार्ग देने के लिये आज वह जन-समुद्र विभक्त नहीं हुआ। उनका ईषन्नमित शरीर देखकर यदि कोई विनीत भाव से हट जाता था तो तत्काल दस ओर से दस व्यक्ति उस स्थान पर टूट पड़ते थे। उनकी क्षीण काया उस भीड़ में अनेक बार दबी-पिसी। उन्हें दबता हुआ देखकर यदि कोई संकोचपूर्वक हट जाने की चेष्टा करता था तो दूसरे ही क्षण देखता था कि उसकी यह चेष्टा व्यर्थ है क्योंकि तत्काल कोई

दूसरा व्यक्ति वहाँ पिल पड़ता था। समस्त विघ्न-बाधाओं को पार करते, हाथियों, ऊँटों तथा रथों की उपेक्षा करते हुए, धूलिधूसरित देह लिए वे रक्षकों के बीच तक पहुँच गए। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि महाराज अभी तक नहीं आए हैं और चारों यवन उन्हीं की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वे भी वेष्टनी के बहिर्भाग में उनकी प्रतीक्षा करने लगे। महाराज भी इसी मार्ग-संकट में पड़ गए थे। उनके चतुरश्व रथ को स्तूप-वेष्टनी तक पहुँचने का मार्ग ही नहीं मिला। नगरद्वार से बाहर आते ही उन्हें रथ से उतर जाना पड़ा। वेष्टनी का द्वार उन्मुक्त करने के लिये बहुत से लोग उनसे सविनय आग्रह करने लगे। इस आग्रह-अनुरोध को पीछे छोड़ते और उतावली जनता को शांत करते हुए महाराज नंगे पैर वेष्टनी के प्रवेशमार्ग तक पहुँच गए। तत्पश्चात् शिल्पीगण, वृद्ध धर्मयाजक तथा महाराज ने वेष्टनी के भीतर प्रवेश किया। वेष्टनी के भीतर जो कुछ हुआ उसका वर्णन करने की संभवतः आवश्यकता नहीं है। विस्मय-विस्फारित नेत्रों से महाराज ने देखा कि चारो दिशाओं में चार तोरण आकाश छू रहे हैं। प्रत्येक तोरण पर उनका नाम और वंश-परिचय अंकित है। प्रत्येक स्तंभ पर नाग, यक्ष, किन्नर आदि उपदेवताओं की मूर्तियाँ बनी हैं एवं सूची पर जातक के अथवा अन्य दृश्य उत्कीर्ण हैं। विस्मय से उनकी वाणी जड़ हो गई, वे आश्चर्य-चकित हो उस शिल्प-कीर्ति का अवलोकन करने लगे। शिल्पीगण तथा धर्मयाजक नीरव भाव से उनका पदानुसरण करते रहे। प्रायः एक प्रहर पर्यंत महाराज ने स्तंभों, सूचियों, स्तूपों और वेष्टनियों का पर्यवेक्षण किया। तदनंतर बाहर आकर उन्होंने

किंचित् काल तक वृद्ध धर्मयाजक के साथ परामर्श किया। इस बीच जन-समुदाय में कोलाहल बढ़ने लगा था। सामनेवाली पंक्ति के नागरिक क्रमशः अधीर हो उठे। महाराज के आदेश से रक्षकगण जन-समूह में प्रविष्ट होकर कतिपय संभ्रांत नागरिकों को महाराज के पास लिवा लाए। तदनंतर ये सब लोग सूचीवत् तीक्ष्ण प्रस्तर खंडों से भरी हुई उस खुली भूमि पर बैठकर विचार-विनिमय करने लगे। नागरिकों को महाराज के पास जाते देखकर जन-समूह किंचित् शांत हुआ, उसने समझा कि संभवतः उसकी इच्छा-पूर्ति के लिये ही महाराज ने प्रधान-प्रधान नागरिकों का आह्वान किया है। बहुत दिनों से लोग यह सुनते आ रहे थे कि उपासक-उपासिकाओं की पूजा के लिये भगवान तथागत का भस्मावशेष मँगाया जानेवाला है और मथुरावासियों ने सद्धर्म के निमित्त उसका एक कण प्रदान करना स्वीकार कर लिया है। वे कब से सुन रहे थे कि नगर के पास गर्भचैत्य का निर्माण होगा, उसमें तथागत का भस्मावशेष स्थापित किया जायगा, सुदूर पर्वत से निर्माणकार्य के लिये रक्तवर्ण पत्थर मँगाया जायगा और उद्यान, कपिशा एवं गांधार जैसे दूर देश के शिल्पी आकर नवीन-प्राचीन शिल्पकला से समन्वित एक अभिनव प्रणाली द्वारा स्तूप वेष्टनी का निर्माण करेंगे। हिंस्र पशुओं से परिपूर्ण पर्वत प्रदेश से नाना प्रकार की विघ्न-बाधाओं को पारकर शिलाखंडों का संग्रह किया गया है। उत्तर पश्चिम के देश से यवन शिल्पी तथा मगध एवं मथुरा से भारतीय शिल्पी बुलाए गए हैं। अब स्तूप प्रस्तुत हो गया है। जन-समूह में ऐसे अनेक व्यक्ति थे जिन्होंने आर्थिक सहायता

दी थी अथवा बिना पारिश्रमिक लिए श्रम किया था। वे भी न तो स्तूप देख पाएँगे और न वेष्टनी के भीतर प्रविष्ट हो सकेंगे, यह उन्हें अविचार प्रतीत हो रहा था। महाराज के पास आए हुए नागरिक परामर्श के उपरांत जनसमूह में वापस जाकर कहने लगे कि एक सप्ताह के अनंतर स्तूपगर्भ में तथागत के भस्मावशेष की स्थापना की जायगी। उस दिन नगर में आठो पहर उत्सव मनाया जायगा और प्रातःकाल से सबको वेष्टनो के भीतर प्रवेश करने तथा पूजन करने का अधिकार मिलेगा। उन्होंने कहा कि महाराज को अभी भी ब्राह्मणों के उपद्रव की आशंका है क्योंकि इसी बीच दो-एक बार उन लोगों ने हानि पहुँचाने की कुचेष्टा की है। अतएव सर्वसामान्य को यदि इस समय वेष्टनी के भीतर प्रविष्ट होने की अनुमति दे दी जायगी तो कहा नहीं जा सकता कि अवसर पाकर वे लोग कौन सा उत्पात कर डालेंगे। भली भाँति विचार कर लेने के उपरांत ही वेष्टनी के भीतर इस समय सर्वसाधारण के प्रवेश का निषेध स्थिर किया गया है। महाराज के पास से लौटे हुए नागरिकों ने यह भी बताया कि हम लोग अन्यान्य लोगों की भाँति स्तूप का दर्शन करने की आशा से ही नगर से आए थे किंतु परिस्थिति पर विचार करके हमलोग भी यों ही लौट रहे हैं। इसके पश्चात् वह विशाल जनसमुद्र नगर की ओर लौट चला।

मैंने भी सुना कि एक सप्ताह के अनंतर उत्सव होगा। उस समय तक्षण की पीड़ा भूलकर यह जानने के लिये व्याकुल होने लगा कि उत्सव कैसा होता है। मनुष्य जाति के संपर्क में मैं थोड़े दिनों से

ही आया हूँ किंतु इसे जितना ही देखता हूँ, विस्मय उतना ही बढ़ता जाता है। वह कृष्णकाय जाति कहाँ गई? वह उज्ज्वल श्वेतकाय जाति कहाँ लुप्त हो गई? श्वेत और कृष्णवर्ण मिश्रित, अपेक्षाकृत विकटाकार जाति कहाँ से आ गई है? इन सब समस्याओं का समाधान जान पड़ता है अभी तक नहीं हो पाया है। भविष्य में कभी हो सकेगा, इसमें भी संदेह है। मेरे समान अतीत का साक्षी यदि कोई और मिलेगा, मुझसे भी अधिक प्राचीन घटनाओं का वर्णन करनेवाला अन्य कोई यदि सुलभ होगा, अथवा मनुष्य जाति की सृष्टि के आरंभ से ही उसके क्रिया-कलाप में लिप्त रहनेवाला कोई तत्व अपनी वाक्शक्ति को उद्घाटित करने की चेष्टा में सफलकाम होगा तभी इस समस्या का समाधान होगा। मनुष्य जाति का उत्सव मैंने कभी नहीं देखा था। नए नए दृश्य देखने का उत्साह और उस विपुल ऐश्वर्य की स्मृति ऐसी प्रबल थी कि उसका चित्र आज भी मेरे समक्ष स्पष्ट रूप से भासित हो रहा है। नवीन वेश और नवीन रूप में शोभित होकर मैं तक्षकों के प्रखर अस्त्राघात की दुःसह यंत्रणा भी भूल गया था!

४

उत्सव के एक दिन पहले से ही वह नवनिर्मित स्तूप पत्र-पुष्पों से सुसज्जित किया जाने लगा। तोरण, स्तंभ और आलंबन हरी-हरी पत्तियों तथा विविध वर्ण के पुष्पों से आच्छादित हो गए। इससे पूर्व इस प्रकार हम लोगों का शृंगार किसी ने नहीं किया था। आगे चलकर सद्धर्म के प्रभाव का उत्कर्ष होने पर जब स्तूप की कीर्ति का पर्याप्त विस्तार हुआ उस काल में भी ऐसा उत्सव होते मैंने कभी नहीं देखा। सद्धर्म में अनुराग रखनेवाले शक राजाओं के आगमन पर स्वर्ण-रजत-खचित आवरणों से स्तूप के चारों ओर का विस्तृत स्थान तक आवृत होते मैंने देखा है किंतु हरित्पल्लव एवं श्वेत पुष्पों के शृंगार से स्तूप की जैसी शोभा हुई थी वैसी फिर कभी दृष्टिगोचर नहीं हुई। स्तूप के पूर्ववर्ती तोरण का मुख नगर की ओर था। इसके आवरण में चार स्तंभ थे। प्रथम स्तंभ में तीन देवमूर्तियाँ उत्कीर्ण थीं। उत्तर की ओर नागराज चक्रवाक की मूर्ति थी। नागराज पर्वत-शिखर पर खड़े थे एवं उनके पादप्रदेश की गिरि-कंदराओं में सिंह,

वृक आदि पशु सुरक्षित थे। नागराज के मस्तक पर उनका नागत्व सूचित करनेवाला पंचमुख सर्प उत्कीर्ण था। केयूर, वलय, हार इत्यादि रत्नाभरणों से शोभायमान नागराज स्तूप के पूर्वद्वार की रक्षा कर रहे थे। नागराज के ऊपर, स्तंभ के शीर्षदेश में, जिस अर्द्धवृत्त का चिह्न आज पर्यंत विद्यमान है वह नाना प्रकार के पत्रों से परिपूर्ण था। धर्मरक्षित नामक किसी श्रद्धावान व्यक्ति ने इस स्तंभ का व्यय-भार वहन किया था। प्रथम स्तंभ के शेष दोनों पार्श्वों में गंगित एवं हृदयग्रीव नामक दो यक्षों की आकृतियाँ थीं। चौथे पार्श्व में सूचीवेध के कारण कोई दृश्य अंकित नहीं किया गया था। गंगित हाथी पर एवं अजकालक शिलासमूह पर बद्धांजलि खड़े थे। गंगित के ऊपर अर्द्धवृत्त में एक पताका-युक्त स्तूप था और अजकालक के मस्तक पर अर्द्धवृत्त के भीतर पत्रावली अंकित थी। उत्सव के पूर्व सजावट वाले दिन आलंबन से लेकर तीनों यक्षों की चोटी तक का भाग श्वेत पुष्पमालाओं से आच्छादित कर दिया गया था, केवल अर्द्धवृत्त दिखाई पड़ रहे थे। प्रत्येक यक्ष के मस्तक और वक्षस्थल पर विविध वर्णों की पुष्पमालाएँ शोभित थीं और नवजात कोमल पल्लवों से उस यक्षत्रयी का बाहुमूल से लेकर पादप्रदेश पर्यंत आवृत था। इसी प्रकार स्तंभवाले स्थानों को छोड़कर आवरण और वेष्टनी का समस्त भाग भी पत्र-पुष्पों से मंडित था। आलंबन का शिरोभाग आम्रपल्लवों से तथा पार्श्वभाग रक्तवर्ण के पुष्पों से आच्छादित था। आलंबन से लेकर प्रथम सूची तक फूलों के स्तवक लटक रहे थे। तोरण के दोनों स्तंभों का आकार बदला हुआ प्रतीत हो रहा था क्योंकि नीचे से लेकर प्रथम

तोरण तक श्वेत, रक्त, नील एवं हरिद्राभ पुष्पों की मालाओं के कारण दोनों स्तंभ गोलाकार हो गए थे। स्तंभ के चारो शीर्षक नागकेसर के पुष्पों से एवं तीनों तोरण भाँति भाँति के चंपक-माल्यों से भूषित थे। सबसे नीचेवाले तोरण में अत्यंत दुष्प्राप्य सहस्रदल श्वेत कमलों की एक पूरी पंक्ति लटक रही थी। सबसे ऊपर छत्रधारी अश्वयुगल और धर्मचक्र त्रिरत्न की मर्यादा के प्रतीक-स्वरूप त्रिविध वर्ण के पुष्पों से विभूषित किए गए थे।

तुम लोग स्तंभ पर जिस प्रकार का स्तूप उत्कीर्ण देखते हो, नव-निर्मित स्तूप का स्वरूप भी वैसा ही था। अर्द्धगोलाकार स्तूप-शीर्षक पर एक चौपहल स्तंभ बना हुआ था। स्तंभ के ऊपर बीच में मालाओं से सुशोभित छत्र था जिसके चारों ओर पताकावाही ध्वजाएँ बनी थीं। उत्सव-सज्जा के दिन ध्वजाओं से लेकर तोरण-शीर्षक पर्यंत एवं चौपहले स्तंभ से लेकर वृत्ताकार आलंबन-श्रेणी पर्यंत बृहदाकार मालाएँ लटकाई गई थीं। स्तूप का शिरोभाग मालाओं से आवृत होकर ऐसा भासित हो रहा था जैसे श्वेत चंद्रातप के बदले श्वेतवर्ण पुष्पों का छत्र लाकर स्तूप के ऊपर स्थापित कर दिया गया है। पत्र-पुष्प-समूह में से उपा-सक-उपासिकाओं तथा दर्शकों ने जो कुछ अवलोकन किया उसका भी वर्णन कर रहा हूँ। कहीं पुष्प-मालाओं के बीच से वृत्त के भीतर अंकित दृश्य फूटा पड़ता था। वृत्त के मध्य भाग में, कुछ ऊँचाई पर, पुष्पयुक्त पाटलवृक्ष बना था जिसकी शाखाओं में गुच्छे-गुच्छे पुष्प लटक रहे थे। चारो ओर नतजानु अथवा खड़े उपासक तथा उपासिकाएँ पुष्प मालाओं से वृक्ष की अर्चना कर रही थीं क्योंकि यह ज्ञानवान

भगवान बुद्ध का बोधिवृक्ष था। अन्य स्थान पर मालाओं से विभूषित चौकोर उच्चासन पर दीर्घाकार शालवृक्ष अंकित था। उसके पार्श्व में उपासक एवं उपासिकाएँ अर्चना में संलग्न थीं क्योंकि यह विश्वभू भगवान बुद्ध का बोधिवृक्ष था। अन्यत्र चार स्तंभों पर स्थापित चौकोर वेदी के ऊपर फलों से परिपूर्ण उदुंबर-वृक्ष था जिसकी शाखाओं में मालाएँ लटक रही थीं। इसके दोनों ओर भी उपासक-उपासिकाएँ थीं क्योंकि यह कनकमुनि बुद्ध का बोधिवृक्ष था। तुम लोगों ने अपूर्ण कहकर जिस स्तंभ को दूर हटा दिया है उसके बीचवाले वृत्त के भीतर गोलाकार वेदी पर शिरीष का वृक्ष बना हुआ है। उत्सव के दिन अपराजिता की मालाओं से इसका शृंगार किया गया था। इसके दोनों ओर भी उपासक-उपासिकाएँ थीं क्योंकि वह क्रकुच्छंद का बोधिवृक्ष था। एक अन्य स्थान पर बारह स्तंभों पर स्थापित वेदी के ऊपर अश्वत्थ-वृक्ष था जिसके चारो ओर स्तंभों की एक पंक्ति बनी हुई थी। इसके तने के दोनों ओर स्तंभ के ऊपर धर्मचक्र और उसके ऊपर त्रिरत्न था। इस वृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं में असंख्य मालाएँ लटक रही थीं। आकाश में गंधर्वगण वंशी-ध्वनि कर रहे थे एवं सुपर्णी अप्सराएँ इतस्ततः पुष्प-वर्षा कर रही थीं। वृक्ष के चारों ओर उपासक-उपासिकाएँ थीं एवं संघाराम के गवाक्षों में से असंख्य दर्शक यह दृश्य देख रहे थे। स्तंभ-वेष्टनी के बाहरी भाग में एक बृहदाकार स्तंभ था जिसके ऊपर अपनी सूँड़ में माला लिए एक हाथी खड़ा था। यही भगवान शाक्यमुनि का बोधिवृक्ष था। स्तंभ-वेष्टनी वाले एवं उसके बहिर्भाग वाले स्तंभों का निर्माण महाराज धर्माशोक ने कराया था।

अन्यत्र स्तंभ-श्रेणी के मध्य में एक वेदी थी जिसपर पुष्पादि बिखरे हुए थे एवं एक ओर हस्त-पंजक के सोलह चिह्न अंकित थे। महाबोधिवृक्ष के पार्श्व में भगवान शाक्यमुनि ने संबोधिलाभ के अनंतर मानव जाति के हित-चिंतन में निमग्न होकर जिस स्थान पर सात दिन तक परिक्रमण किया था एवं बाद में धर्माशोक ने जहाँ विहार बनवाया था, यह वही संक्रमण-स्थान था। यह समस्त दृश्यावली एक सूची पर अंकित थी। एक दूसरे स्थान पर चार स्तंभों के ऊपर निर्मित विहार के मध्य में रत्नजटित आसन पर भगवान का धर्मचक्र विराजमान था। धर्मचक्र के ऊपर पुष्पमाला एवं छत्र था, अगल-बगल उपासक और उपासिकाएँ थीं। विहार के दाहिनी ओर विशाल तोरणद्वार था। यह इतना ऊँचा था कि आरोही समेत बैठा हुआ हस्तिपक उसमें से अपना हाथी ले जा रहा था। तोरण के पीछे दूसरा हस्तिपक हाथी के आहार के निमित्त एक पेड़ से पत्तियाँ तोड़ रहा था; बाईं ओर एक चतुरश्व-योजित रथ दो आरोहियों को लेकर वेगपूर्वक विहार की ओर आ रहा था; इसके पीछे एक वृक्ष पर एक छत्र लगा हुआ था—कोई दरिद्र उपासक स्थानाभाव के कारण चक्रराज के निमित्त उद्दिष्ट छत्र वहाँ रख गया था। दूसरे वृत्त में मायादेवी के गर्भ धारण करने का दृश्य था। मायादेवी खाट पर सोई हुई थीं। खाट के नीचे भृंगार रखा हुआ था एवं पैर की ओर दीपक जल रहा था। भूमि पर बिछे हुए आसनों पर बैठी हुई दो परिचारिकाएँ व्यजन और सेवा में नियुक्त थीं; एक सखी हाथ जोड़े मायादेवी के मस्तक की ओर बैठी थी। ऊपर श्वेत हाथी था। भगवान श्वेत हाथी का रूप धारण कर मायादेवी के

गर्भ में आश्रय ले रहे थे। एक अन्य स्तंभ पर वृत्त के अंतर्गत पर्वत-मालाएँ अंकित थीं। पर्वतों के बीच में विशाल गुफा थी जिसके बीच में रत्नजटित आसन रखा था। आसन के ऊपर छत्र था। चारो ओर उपासक बैठे हुए थे। गुफा के बाहर सिंह, शृगाल, मयूर, वानर आदि नाना जीव अंकित थे। गुहा-द्वार के निकट सततंत्र वीणा हाथ में लिए गंधर्व पंचशिख खड़े थे। यह इंद्रशिला नामक गुहा थी। एक बार वर्षा ऋतु में जब भगवान शाक्यमुनि राजगृह के शैलशिखर पर अवस्थित गिरि-गुहा में एकांतवास कर रहे थे तब देवराज इंद्र ज्ञान की आकांक्षा से वहाँ आए थे और उन्होंने भगवान से कतिपय प्रश्न पूछे थे। सद्धर्म में श्रद्धा रखनेवालों का कहना है कि वहाँ शिलाखंडों पर भगवान की अँगुलियों के चिह्न अब तक वर्तमान हैं। बौद्ध-जगत् में यह गुहा इंद्रशिला गुहा के नाम से विख्यात है। जितने काल पर्यंत भगवान जिज्ञासा का समाधान करते रहे उतने काल तक पंचशिख वीणा-वादन करते हुए गाते रहे। एक अन्य स्तंभ पर मृग-जातक का दृश्य अंकित था। वृत्त के भीतर तीन वृत्त बने हुए थे। दाहिनी ओर मृगों का झुंड भागा जा रहा था, एक बड़ा सा मृग गड्ढे में गिरा हुआ था, गड्ढे के किनारे स्तुति करते हुए तीन मनुष्यों की मूर्ति उत्कीर्ण थी एवं बाईं ओर एक मनुष्य मृगयूथ पर शर-संधान कर रहा था। ऐसी कथा है कि भगवान शाक्यमुनि किसी पूर्व जन्म में एक मृगयूथ के नेता थे। एक बार किसी व्याध द्वारा मृगकुल के प्रताड़ित होने पर एक गर्भवती मृगी भाग न सकी और उसने मृगपति को संबोधन करके कहा—'मैं भागने में असमर्थ हूँ, मारी जाऊँगी तो मेरे पेट का बच्चा भी मर जायगा।' इतने में

भागते हुए मृगों के संमुख एक गड्ढा देखकर मृगी ने पलायन करना छोड़ दिया। मृगपति ने छलाँग मारकर गड्ढे के भीतर प्रविष्ट होते हुए उस मृगी से कहा—'तुम मेरी पीठ पर पैर रख गड्ढा पार कर लो।' इस बीच शेष मृग चौकड़ी भरते हुए गड्ढे के उस पार निकल गए थे। दूसरे ही क्षण व्याध द्वारा चलाया गया तीर मृगपति को बेध गया और उनके प्राण-पखेरू उड़ गए।

एक अन्य स्तंभ पर नाग-जातक की कथा उत्कीर्ण थी। एक सरोवर के किनारे तीन हाथी खड़े थे जिनमें से एक पर एक बृहदाकार कर्कट ने आक्रमण कर दिया था। कथा है कि किसी वन के बीच एक बहुत बड़ा सरोवर था जिसमें एक विशाल कर्कट निवास करता था। हाथी जब उस जलाशय में पानी पीने के लिये आते थे तब कर्कटराज उनमें से किसी का पैर अत्यंत दृढ़तापूर्वक पकड़ लेते थे और तब तक पकड़े रहते थे जब तक वह निष्प्राण नहीं हो जाता था। हाथी के मर जाने पर उन्हें कुछ दिनों के लिये आहार मिल जाता था। हस्तिनी के गर्भ से जन्म लेकर बोधिसत्व ने भी इस कर्कट की कथा सुनी। एक बार पिता की अनुमति लेकर वे उक्त सरोवर तक गए। कर्कट ने उनपर भी आक्रमण किया किंतु बाद में अपनी पत्नी के आग्रह पर दयार्द्र होकर उन्हें छोड़ दिया। छोड़ने के साथ ही बोधिसत्व के पैरों के नीचे कुचलकर वह मर गया। एक दूसरे स्थान पर छदंत-जातक का दृश्य था। कथा है कि हिमालय के निकट छदंत नामक सरोवर के पास आठ सहस्र षड्दंत हाथी निवास करते थे। किसी समय बोधिसत्व इस हस्तिकुल के अधिपति थे और महासुभद्रा एवं चुल्लसुभद्रा नामक

उनकी दो पत्नियाँ थीं। एक बार हस्तिराज ने एक पेड़ उखाड़कर उसके हरे हरे पत्र-पुष्प महासुभद्रा के समक्ष और शुष्क पत्र एवं शाखाएँ बुल्लसुभद्रा के समक्ष डाल दिया। तभी से बुल्लसुभद्रा उनसे विरक्त हो गई और पूर्ववर्ती पाँच सौ बुद्धों से प्रार्थना करने लगी कि अगले जन्म में राजकन्या होऊँ और व्याध के द्वारा हस्तिराज का वध कराऊँ। बुद्धगण ने उसकी प्रार्थना सुन ली। कुछ ही दिनों में बुल्लसुभद्रा की मृत्यु हो गई। उसने किसी राजपरिवार में जन्म ग्रहण किया और काशिराज के साथ उसका विवाह हुआ। अपनी पूर्व प्रतिज्ञा को स्मरण कर उसने अपने पूर्वस्वामी का वध करने का संकल्प किया। व्याध उसके निर्देशानुसार छदंत सरोवर के तट पर आकर हस्तिकुल की गतिविधि लक्ष्य करने लगा। उसने देखा कि कुलपति प्रतिदिन सरोवर के प्रायः एक ही स्थान पर स्नान करते हैं। उस स्थान के पास ही व्याध ने एक गड्ढा बनाया और तीर चलाने भर का स्थान छोड़ उसे काष्ठ, मिट्टी आदि से ढककर स्वयं उसके भीतर छिप गया। दूसरे दिन स्नानार्थ आते समय हस्तिराज शराहत होकर गिर पड़े। उनका आर्त्तनाद सुनकर अन्यान्य हाथी दौड़ आए और खोजते खोजते उन्होंने भूगर्भ में छिपे काषाय वस्त्रधारी व्याध को देख लिया। हस्तिराज ने जब व्याध के मुख से समस्त कथा सुन ली तो उन्होंने अन्य हाथियों को व्याध की हत्या नहीं करने दी। उन्होंने कहा—"एक साधारण-सी बात पर बुल्लसुभद्रा मेरा प्राण लेने पर तुल गई और उसने तुम्हें मेरा दाँत उखाड़ लाने की आज्ञा दी किंतु मेरे दाँतों से उसका कोई लाभ नहीं होगा। फिर भी तुम प्रसन्नता से मेरे दाँत काट

ले जा सकते हो।" व्याध दाँतों तक पहुँच नहीं पा रहा था। यह देख-कर हस्तिराज ने उसे अपने शुंड पर चढ़ा लिया। तदनंतर उसने दाँत उखाड़े। इसके पश्चात् हस्तिराज ने प्राण त्याग किया। उत्कीर्ण दृश्य में वृत्त के भीतर वृक्ष के नीचे चार हाथी खड़े थे। व्याध अपना धनुष-बाण भूमि पर डालकर हस्तिदंत काट रहा था। कहीं स्तंभ के मध्य भाग में चौकोर वेष्टनी के अंतर्गत स्वर्गस्थ वैजयंत प्रासाद अंकित था। यह तीन खंडों का था; दूसरे और तीसरे खंड के वातायनों में से झाँकती हुई स्त्रियों के मुख दृष्टिगोचर हो रहे थे तथा नीचेवाले खंड के एक कक्ष में कतिपय देवी-देवताओं की मूर्तियाँ थीं। बगल वाले विहार में भगवान शाक्यमुनि का उष्णीष सुरक्षित था। दाहिनी ओर एक पुरुष चँवर डुला रहा था और बाईं ओर एक उपासक हाथ जोड़े खड़ा था। विहार और प्रासाद के संमुख अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं और भूमि पर बैठे हुए पुरुष वीणा आदि वाद्ययंत्र बजा रहे थे। शाक्यमुनि के महापरिनिर्वाण के अनंतर देवराज इंद्र उनका उष्णीष लेकर स्वर्ग चले गए थे जहाँ देवगण अखंड भाव से उपासना कर रहे थे एवं अप्सराएँ नृत्य-गान से उनकी अर्चना कर रही थीं। स्तूप निर्माण के अवसर पर भिक्षु ऋषिपालित ने यह स्तंभ दान किया था। इसके दो ओर चौकोर वेष्टनी के भीतर छः दृश्य अंकित थे एवं वृत्त अथवा अर्द्धवृत्त का अभाव था। शेष दोनों ओर सूची-प्रवेश के निमित्त छः छिद्र बने थे। इसके एक पार्श्व में ऊपर की ओर वैजयंत-प्रासाद और उष्णीष-विहार थे। इसी पार्श्व में सबसे नीचे मगधाधिपति अजातशत्रु द्वारा बुद्ध-वंदन का दृश्य अंकित था। इस दृश्य के दो विभाग थे। नीचे

चार हाथियों पर दो पुरुष और तीन स्त्रियाँ आरूढ़ थीं। इसके पश्चात् दो वृक्षों के बीच एक चौकोर वेदी थी जिसके संमुख एक नतजानु पुरुष हाथ जोड़े बैठा था। पीछे एक पुरुष और चार स्त्रियाँ थीं। कहा जाता है कि पितृहत्या करने के अनंतर बहुत दिनों तक महाराज अजातशत्रु को निद्रा नहीं आई। अंत में उन्होंने अपने भ्राता और चिकित्सक जीवक के परामर्शानुसार बुद्ध-दर्शन के निमित्त यात्रा की। पाँच सौ स्त्रियों सहित हाथी पर आरूढ़ होकर महाराज राजगृह के नगरद्वार से बाहर निकल रहे थे। इस दृश्य के निम्न भागवाले हाथी पर जो दो पुरुष थे उनमें से एक महाराज अजातशत्रु थे और दूसरा उनका हस्तिपक था। उपरिवर्त्ती दृश्य के नतजानु पुरुष भी महाराज ही थे। एक अन्य स्थान पर वृत्त के भीतर अनाथपिंडद के जेतवन-दान का दृश्य अंकित था। वृत्त के भीतर वाम पार्श्व में तीन वृक्ष थे। तीन व्यक्ति भूमि पर चौकोर स्वर्णमुद्राएँ बिछा रहे थे, चौथा व्यक्ति शकट से स्वर्णमुद्राएँ निकालकर ला रहा था। वृक्ष के पास एक व्यक्ति शकट के संमुख खड़ा था। वृत्त के दक्षिण पार्श्व में पृथक् पृथक् दो घर बने थे जिनके मध्य में जल-पूर्ण भृंगार हाथ में लिए एक व्यक्ति खड़े थे। ये श्रावस्ती के प्रधान श्रेष्ठि अनाथपिंडद थे। इनके संमुख अन्य कई पुरुष खड़े थे। ऐसी कथा है कि भगवान शाक्यमुनि के जीवनकाल में श्रेष्ठि अनाथपिंडद ने उनके लिये एक विहार बनवाने का संकल्प किया और श्रावस्ती नगरी के उपकंठ में कोई उपयुक्त स्थान ढूँढने लगे। कुमारपाद जेत की वाटिका से आकृष्ट होकर उन्होंने जेत से उसका मूल्य पूछा। जेत ने उत्तर दिया कि वाटिका-भूमि जितनी स्वर्ण-मुद्राओं

से ढँक जाय वही उसका मूल्य है। तदनुसार अनाथपिंडद ने एक कोटि स्वर्ण मुद्राओं से वाटिका की अधिकांश भूमि को ढँक दिया एवं शेष भूमि जेत ने बिना मूल्य दान कर दी। दृश्यांकन में अनाथपिंडद भूमि पर जल डालते हुए उस वाटिका को बौद्ध संघ के निमित्त उत्सर्ग कर रहे थे। इसमें जो दो घर बने थे उनमें से एक गंधकुटी और दूसरा कोशंबकुटी के नाम से प्रख्यात था। जब तक बौद्ध धर्म जीवित रहेगा तब तक जेतवन, अनाथपिंडद एवं इन दोनों कुटियों के नाम स्मरणीय रहेंगे। सुनता हूँ कि काल-प्रभाव में पड़कर श्रावस्ती नगरी अब मिट्टी के ढेर में परिणत हो गई है तथा जेतवन-विहार एवं गंधकुटी भी धूलि में मिल चुकी है। किंतु तीर्थयात्रियों के पथप्रदर्शक भिक्षु और श्रमण अद्यापि जेतवन तथा कोशंबकुटी का नाम स्मरण करते हैं। तुम्हें वहाँ क्या दिखाई पड़ा? राप्ती नदी के तट पर निर्मित कोशलराज प्रसेनजित् के गगनचुंबी प्रासाद का ध्वंसावशेष पर्यंत विचूर्ण होकर मार्ग की धूलि में मिल चुका है। श्रावस्ती नगरी का वह महाश्मशान क्या तुमने देखा है? जिन्होंने पर्वतवासी पराक्रांत शाक्य जाति को उध्वस्त कर दिया था उनके वंशधरों को क्या तुमने देखा है? शाक्यराज के गुरु त्रिपिटकोपाध्याय भिक्षुबल और पुण्यबुद्धि ने जिस महाविहार का निर्माण करवाया था, कंकड़-पत्थर और झाड़-झंखाड़ से भरे हुए उसके ध्वंसावशेष को तो तुमने देखा ही होगा। गहरवारवंशीय कान्यकुब्जाधि-पति गोविंदचंद्र ने जेतवन में जो संघाराम बनवाया था और जिस संघाराम के व्यय-निर्वाह के निमित्त श्रावस्तीमंडल, श्रावस्तीविषय एवं श्रावस्तीभुक्ति के आठ ग्राम दान किए गए थे, सुनता हूँ कि उसी के

ध्वंसावशेष को लेकर नवीन राजपुरुषों ने अपना राजप्रासाद निर्मित कराया है। महाचीन से लेकर कुरुवर्ष पर्यंत समस्त महादेश के बौद्ध-धर्मानुयायी जिस नगरी के पथ की एक एक मुट्ठी पुण्यधूलि अत्यंत यत्नपूर्वक अपनी अपनी मातृभूमि तक ले जाया करते थे, हजार हजार कोस से आनेवाले यात्री जिस विहार का दर्शन करके अपना यात्रा-श्रम सार्थक हुआ समझते थे, सैकड़ों वर्षों तक बौद्धधर्मानुयायियों ने जिस मंदिर-विहार आदि की शोभा के लिये कोटि कोटि स्वर्ण-मुद्राएँ व्यय की थीं, उस स्थान पर श्रावस्ती नगरी के अतीत गौरव का साक्ष्य देने-वाला अब कुछ भी शेष नहीं रह गया है।

किसी भी स्तंभ के बीच वाले भाग में अर्द्धवृत्त नहीं था। पूर्व-वर्णित आवरण में प्रथम स्तंभ की भाँति नाग अथवा यक्ष की मूर्तियाँ बनी थीं। किसी किसी स्तंभ में अश्वारूढ़ पताकाधारी पुरुष अथवा स्त्री की मूर्ति भी दिखाई पड़ती थी। इसी प्रकार स्तंभों पर स्थान स्थान पर चुलकोक देवता, सुदर्शना यक्षिणी, सिरिमा देवता, चंदा यक्षिणी, सूचीलोम यक्ष, कुवेर यक्ष इत्यादि की नाना प्रकार की मूर्तियाँ उत्कीर्ण थीं। किसी किसी स्तंभ पर वृत्त वा अर्द्धवृत्त के भीतर भाँति भाँति के विनोदपूर्ण चित्र अंकित थे। एक स्थान पर चार वानर एक हाथी को बाँधे लिए जा रहे थे। हाथी के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिये वानरों ने उसकी सूँड़ में लकड़ी का बड़ा-सा कुंदा बाँध दिया था। एक वानर बँधी हुई रस्सी पकड़े, हाथ में अंकुश लिए, आगे आगे चल रहा था और शेष तीन वानर उस विशालकाय हाथी से बँधी रस्सियों को इस प्रकार खींचते चल रहे थे जैसे बहुत बड़ी नाव

की गोन खींच रहे हों। दूसरे दृश्य में वानरगण हाथी की पीठ पर बैठे हुए थे। पूर्ववर्णित आगे चलनेवाला वानर महावत के स्थान पर बैठा था, दूसरा दाँत पर खड़ा था और हस्तिचालक वानर से कुछ कह रहा था। नीचे तीन वानर वंशी, नगाड़ा और डमरू बजा रहे थे। अन्य दृश्य में एक राक्षस आसन पर बैठा हुआ था, एक वानर उसके नासिका-रंध्र में वक्राकार लौहखंड डालकर उसका बहिर्भाग पकड़े हुए था, नीचे एक छोटा-सा वानर छोटे-से आसन पर बैठा उस राक्षस का दाहिना हाथ पकड़े था। नासिका-रंध्र में प्रविष्ट लौहखंड में एक रस्सी बँधी थी जिसका दूसरा छोर एक हाथी के गले में बँधा हुआ था। हाथी उसे अपनी समस्त शक्ति लगाकर खींच रहा था, हस्तिपक अंकुश चला रहा था, पीछे से अन्यान्य वानर हाथी के पैरों पर डंडे मार रहे थे, ऊपर-नीचे दो वानर शंख और नगाड़ा बजाकर हाथी को भयभीत करके भगाने की चेष्टा कर रहे थे। यह दृश्य देखकर स्पष्ट भासित होता था कि इतना प्रयत्न करने पर भी उस राक्षस के नासिका-रंध्र में जमा हुआ बाल उखड़ नहीं रहा है। किसी स्तंभ पर कोई अश्वारूढ़ पुरुष किंवा स्त्री हाथ में गरुड़ध्वज अथवा किन्नरध्वज लिए धीर गति से चली जा रही थी। गरुड़ध्वज और किन्नरध्वज के कारण विस्मित नहीं होना चाहिए। संप्रति जिस प्रकार किरातदेशीय बौद्ध तीर्थ में बाँसों में लगे श्वेत, कृष्ण, नील, पीत, रक्त, नाना वर्णों की असंख्य पताकाएँ देखते हो उसी प्रकार प्राचीन काल में मंदिरों तथा विहारों पर हिंदू, जैन वा बौद्ध का भेद-भाव किए बिना भिन्न भिन्न प्रकार की पताकाओं से सुशोभित

ध्वजसमूह पुण्यार्थियों द्वारा स्थापित किए जाते थे। समस्त आर्यावर्त्त में महाराज अशोक द्वारा स्थापित सिंह, हस्ती अथवा वृषभधारी जो शिलास्तंभ देखते हो वे भी ध्वजाएँ ही हैं। उन्होंने सामान्य तीर्थ-यात्रियों की ध्वजाओं के बदले आसेतुहिमालय सुचिक्कण, समुज्ज्वल, मसृण शिलास्तंभों की स्थापना करके पुण्यभूमि पर काषाय पताका फहराई थी। धर्मलिपियाँ प्रस्तुत कराने के पूर्व उपगुप्त की दीक्षा ग्रहण करके महाराज अशोक ने जिस समय आर्यावर्त्त की पुण्ययात्रा की थी उसी समय समस्त पुण्यभूमि में सिंह, हस्ती अथवा वृषभध्वज की स्थापना हुई थी। कब कौन यवन आकर ब्राह्मणों के किस उपास्यदेव के चरणों में, आर्यावर्त्त के किस भाग में, गरुड़ध्वज की प्रतिष्ठा कर गए थे, यह सहस्रों वर्षों के अनंतर अब सिंदूर-लेपन से मुक्त होकर पुनः मानव-लोचनों के समक्ष स्पष्ट हुआ है। इसे देखकर या सुनकर विस्मित मत होना। यदि ब्राह्मणों के उपास्य वासुदेव के निमित्त यवन तीर्थयात्री द्वारा पत्थर का गरुड़ध्वज निर्मित हो सकता है तो आर्यावर्त्त में सद्धर्म के पचीस शताब्दियों के जीवनकाल में लाखों पताकावाही ध्वजों की स्थापना पर विस्मय प्रकट करना असंगत होगा। इस पुण्यभूमि में अनुसंधान करो; तुम देखोगे कि राजगृह में, पाटलीपुत्र में महाबोधि में, वैशाली में, वाराणसी में, श्रावस्ती में, कुशीनगर में, कोशांबी में, संकाश्य में, उज्जयिनी में, मथुरा में, पृथूदक में, स्थाण्वी-श्वर में, जालंधर में, तक्षशिला में, नगरहार में, पुरुषपुर में, वाह्लीक में, कपिशा में, न जाने कितने सहस्र ध्वजों की स्थापना हुई थी। सद्धर्म के गौरव की तुलना में ब्राह्मणधर्म का गौरव हीन

है। सद्धर्म और ब्राह्मणधर्म को समान समझना कदापि उचित नहीं है।

प्रातःकाल उत्सव होनेवाला था। नवविवाहित पुरुष की आकांक्षा के समान दुर्दमनीय मनोवेग के साथ मैं उषा के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था। मैंने जो कुछ देखा उसे पहले कभी नहीं देखा था, न कभी फिर देख पाऊँगा। उसकी प्रत्येक घटना मेरे मन पर मानों किसी ने उत्कीर्ण कर दी है। उसका लेशमात्र भी मुझे भूला नहीं है।

५

दूसरे दिन सूर्योदय से बहुत पहले नगर की ओर कोलाहल सुनाई पड़ने लगा। उन दिनों शिशिर ऋतु थी। हिमकणों से सिक्त उस प्रदेश पर शुभ्र तुषार का झीना आवरण शुक्लवर्ण उत्तरीय के समान दिखाई देता था। पत्तियों पर जमा हुआ तुषार ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों वनस्पति-जगत् धान की खीलों से उस मंगल दिवस की अर्चना कर रहा है। रात्रि का अंधकार भेदकर जिस समय पूर्व दिशा में वाह्लीक-ललना के ललाट पर सिंदूर-शोभा की भाँति अरुणाभा लक्षित हुई उस समय तक भूमि पर गिरा हुआ तुषार कीचड़ में परिणत हो चुका था; असाधारण कोलाहल सुनकर विहगकुल नीड़ों से निकलकर आकाश में उड़ चुका था और वह समस्त स्थान विविध वर्ण के उष्णीषों एवं शिरस्त्राणों से परिपूर्ण हो गया था। जन-समूह के बीच वेष्टनी से लेकर नगरद्वार तक मार्ग का एक भाग कोष्ठपालों ने रस्सियों से घेर दिया था। जान पड़ता था कि कोई विशाल सर्प दम तोड़कर, देह ढीली किए, यहाँ से वहाँ तक लंबायमान है। सूर्योदय से कुछ पहले ही

पुर-ललनाएँ यह पथ परिष्कृत कर गई थीं, तदनंतर कुमारी कन्याएँ अंजलि भर-भरकर विभिन्न प्रकार के पुष्प ले आई थीं और वह समस्त पथ सुगंधित सुमनों से परिपूर्ण हो गया था। सुगंधित जल से पूर्ण भृंगार हाथ में लिए बालकवृंद उस पुष्पराशि का सिंचन कर गया था। इतने में चारों तोरणों के आवरण के निकट बैठे वादकों ने वाद्ययंत्रों के सहयोग से स्तुतिगान आरंभ किया। जिन पुष्पों से हम लोगों का श्रृंगार किया गया था उन्हें प्रफुल्ल बनाए रखने के निमित्त परिचारकों ने सूर्योदय होते ही सुगंधित जल से सिंचित कर दिया था। इसी समय नगरद्वार पर तूर्यनाद सुनाई पड़ा और उसके साथ ही नगर-तोरण से देवयात्रा आरंभ हुई। देवयात्रा के अग्रभाग में चीवरधारी भिक्षुओं और श्रमणों की पंक्तियाँ थीं। प्रत्येक पंक्ति में पाँच व्यक्ति थे। इस प्रकार की शताधिक पंक्तियाँ नगरद्वार से बाहर निकलीं। इनके पश्चात् वादिकाओं और नर्त्तकियों के दल ने वाद्ययंत्र बजाते एवं मंगल संगीत गाते हुए भिक्षुओं का अनुसरण किया। इनके पीछे बहुमूल्य परिधानों से विभूषित नगर की देवदासियाँ, गणिकाएँ, शोभिकाएँ आदि आईं। नगरद्वार से इनके बाहर आने के पश्चात् अत्यंत ऊँचा श्वेतवर्ण सतछत्र दृष्टिगोचर हुआ। यह श्वेतछत्र दिखाई पड़ते ही जनसमूह ने उच्च स्वर से घोष किया और कोलाहल अत्यधिक बढ़ गया। कोष्ठपालों की रस्सियों का उल्लंघन करके जनसमूह नगर की ओर प्रतिवर्तित होने की चेष्टा करने लगा। बहुत प्रयत्न के पश्चात् यात्रापथ साफ हुआ किंतु वर्द्धित कोलाहल मध्याह्न के पूर्व तक शांत नहीं हो पाया। श्वेतछत्र क्रमशः निकट आने पर

दिखाई पड़ा कि उसके नीचे स्वर्णदंडयुक्त हीरक-मुक्ता-जड़ित चंद्रातप तना हुआ है। महाराज धनभूति और उनकी राजमहिषियाँ स्वयं अपने हाथों से चंद्रातप का स्वर्णदंड सँभाले हैं। चंद्रातप के नीचे स्वर्ण-निर्मित छत्रदंड लिए पाटलीपुत्र के वही वृद्ध महास्थविर विराजमान हैं। उनके पार्श्व में एक दीर्घकाय, श्वेतांग एवं श्वेतवस्त्रधारी प्रौढ़ व्यक्ति के दाहिने हाथ में एक स्फटिकाधार है। महास्थविर उसी स्फटि-काधार के ऊपर स्वर्णछत्र लगाए हुए हैं। उस शिशिर-प्रभात में नंगे पैर तथा स्वल्प वस्त्र होने पर भी ऐसा प्रतीत होता था मानों वे पचास वर्ष पहले जैसे युवक हैं। उनके शरीर की झुर्रियाँ भर आई थीं तथा वार्द्धक्य से अवनत देहयष्टि तनकर सीधी हो गई थी। संभवतः निर्वाण प्राप्त होने पर भी उनमें ऐसा परिवर्त्तन न होता। उनके पार्श्वस्थ प्रौढ़ व्यक्ति का जनसमूह के समस्त संभ्रांत व्यक्ति अभिवादन कर रहे थे एवं शेष जन उन्हें विस्मित भाव से देख रहे थे। आज की देवयात्रा में तथागत का शरीर-भार वहन करने का सौभाग्य किसे प्राप्त हुआ, यह ज्ञात नहीं हो सका। चंद्रातप के पीछे राजकर्मचारी गण थे और उनके पश्चात् वे नागरिक थे जो कारणवश पीछे छूट गए थे। इस प्रकार पूरी देवयात्रा नगर के तोरणद्वार से बाहर निकल आई। आज हाथी, घोड़े, ऊँट, रथ आदि का व्यवहार नहीं हुआ, महाराज से लेकर सामान्य नागरिक तक सबने नंगे पैर इसमें योग दिया। धीरे धीरे यात्रा का अग्रभाग तोरण के संमुख पहुँचा। स्नानांतर कौषेय वस्त्र धारण किए चारो यवन शिल्पियों ने जल, अर्घ्य और पुष्पों से देवयात्रा का पूजन किया, तदनंतर समस्त यात्रा ने तीन बार

स्तूप-वेष्टनी का परिक्रमण किया। फिर उसने पूर्व दिशा वाले तोरण से वेष्टनी के भीतर प्रविष्ट होकर परिक्रमण-पथ पर सात बार प्रदक्षिणा की। देवयात्रा का अग्रभाग जिस समय दक्षिण दिशा वाले तोरण के संमुख पहुँचा उस समय आर्चिमिदार ने प्रदक्षिण पथ पर उपस्थित होकर वर्तुलाकार स्तूप के एक स्थान पर हाथ रखा। उनके स्पर्श मात्र से पत्थर के दो विशाल पट्ट अंतर्हित हो गए और मानव-शरीर के बराबर स्थान निकल आया। यवन शिल्पियों के बुलाने पर रक्तवर्ण परिधान धारण किए दस उल्कावाही उस उन्मुक्त मार्ग पर अग्रसर हुए। महाराज धनभूति, पाटलीपुत्रवासी महास्थाविर एवं तथागत के शरीरभारवाही गौरांग सज्जन को छोड़कर शेष लोग बाहर खड़े रहे। चँवर हाथ में लिए महाराज धनभूति, स्वर्णछत्र लिए महास्थविर एवं तथागत का शरीरभार लिए गौरांग सज्जन उल्काधारियों के पीछे पीछे उस गह्वर में प्रविष्ट हुए। बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि भीतर विस्तृत चौकोर गर्भगृह बनाया गया था। इस कक्ष के मध्य भाग में प्रस्तर-निर्मित विशाल आधार पर स्थित स्वर्ण-पात्र में तथागत के भस्मावशेष का स्फटिकाधार स्थापित कर दिया गया। तदनंतर यथा-योग्य क्रम से महाराज, राजमहिषियों, राजपुरुषों एवं नगरवासियों ने प्रवेश कर भस्मावशेष का दर्शन, स्पर्श और अर्चन किया। सब लोगों को दर्शनादि करते करते दिन के दो प्रहर बीत गए। क्रमशः नगर के उस उपकंठ का चतुर्दिक् पटमंडपों एवं हरित्पल्लव-निर्मित कुटीरों से भर गया। नागरिकों के वार्तालाप से ज्ञात हुआ कि दो प्रहर रात्रि के पूर्व जनसमूह का कोई प्राणी यहाँ से वापस नहीं जायगा। मैंने

देखा कि उस भू-स्थली पर एक नवीन नगर ही बस गया है। राज कर्मचारियों ने राजमार्ग का निर्देश कर दिया है, पटमंडपों अथवा सामान्य वस्त्राच्छादनों में असंख्य वणिक् बैठे हुए हैं, ग्राहकों का भी अभाव नहीं है एवं क्रय-विक्रय का क्रम अबाध गति से चल रहा है। भोजनादि प्रस्तुत करने के निमित्त जलाई गई अग्नि के कारण नाना स्थानों से धुआँ उठ रहा है। जन-समूह अपना देवदर्शन का मनोरथ पूरा करके उत्सव-आनंद में निमग्न है। वेष्टनी के बाहर पुष्पविक्रेताओं की दूकानें थीं। दोपहर के पहले तक उन्हें नवीन पुष्प नहीं मिले। स्तूप के पूर्व तोरण से लेकर नगरद्वार तक प्रधान राजमार्ग था। इस मार्ग पर पहले पुष्पविक्रेताओं की और उसके अनंतर सुरा तथा तांबूल-विक्रेताओं की दूकानें थीं। देवपूजन समाप्त होते होते नागरिकों के कंठ मरुभूमि के समान शुष्क हो गए थे और वेष्टनी से बाहर आते ही उनकी टोलियाँ मदिरालयों पर टूट पड़ीं। नागरिक भीतर जाकर आसव से पूर्ण पात्र रिक्त करते थे, बाहर आकर तांबूल क्रय करते एवं विक्रेत्री के साथ हास-परिहास करते थे एवं कंठ शुष्क होने पर पुनः मदिरालयों में प्रविष्ट हो जाते थे। अधिकांश नागरिकों का यही क्रम चलता रहा। उस दिन या तो इन नागरिकों को ही सुरापान करते देखा, अथवा इनके सात सौ वर्ष पश्चात् हूणों को। वृक्षों के नीचे जिन वारांगनाओं ने नृत्य-गीत आरंभ किया था उनकी कंपित काया और आरक्त नेत्र कादंब की महिमा सूचित कर रहे थे। इस उत्सव के निमित्त शौंडिकों ने जो मदिरा प्रस्तुत की थी, जान पड़ता है उसके लिये समूचा कदंब वृक्ष चक्रयंत्र में डाल दिया गया था। कहीं किसी

विलासप्रिय नागरिक का पटमंडप सजा हुआ था। उत्सव के दिन नृत्य गीत और हास-विलास से वह वस्त्रावास परिपूर्ण हो गया था तथा सुरा की मानों नदी बह चली थी। नागरिक और नागरिकाओं के कुछ दल देवार्चन के अनंतर स्नानार्थ नदी तट की ओर जा रहे थे। नदी में छोटी-बड़ी अनेक प्रकार की नौकाएँ भाँति भाँति से सज-बजकर उत्सव की सूचना दे रही थीं। जनसमूह का स्रोत नदी तट की ओर सम भाव से प्रवहमान था। नागरिकों के पादक्षेप ने उधर का मार्ग कीचड़ से भर दिया था तथा इतने व्यक्तियों के एक साथ स्नान करने के कारण उस छोटी सी नदी का जल मलीन हो गया था। नौकाओं पर युवक युवती, बालक, वृद्ध डाँड़ा सँभाले उत्सव की प्रसन्नता से विह्वल हो विहार कर रहे थे। वेदी के निकट कहीं किसी वृक्ष के नीचे चीवरधारी भिक्षु-गण प्रव्रज्या प्रदान कर रहे थे एवं मुंडितमुंड उपासक - उपासिकाएँ 'बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, धर्म्मं शरणं गच्छामि' इत्यादि मंत्रों का पाठ करके अपनी जीवनपर्यंत की संचित कलुषराशि को नष्ट करने की चेष्टा कर रही थीं। कहीं पर स्थविर तथा त्रिपिटकोपाध्याय-गण अभिधर्मकोषव्याख्या एवं अभिधर्मविभाषाशास्त्र के कूट तर्क में व्यस्त थे। इसी प्रकार दिन का तीसरा प्रहर बीत गया। तीसरे और चौथे प्रहर के बीच किंचित् काल के लिये उत्सव स्थगित हुआ और लोग भोजनादि में प्रवृत्त हुए। सुदीर्घ पटमंडप के भीतर महाराज तथा राजमहिषियों ने भिक्षुसंघ को भोजन कराने का आयोजन किया था। स्थविर एवं भिक्षुगण बिना किसी भेदभाव के भोजन के लिये बैठे थे। महाराज, वृद्ध महास्थविर तथा नवागत गौरांग सज्जन तब तक निराहार

रहकर भोजनादि की व्यवस्था का निरीक्षण कर रहे थे। भिक्षुओं के भोजन कर लेने पर सब लोग पुनः स्तूप-वेष्टनी के भीतर चले गए। सूर्यास्त की वेला हो चली थी। इस बीच परिचारिकाओं ने हमारा पुष्प-शृंगार उतार डाला था। विविध भाँति के काँच और स्फटिक के दीप तथा पात्र क्रमशः लाए जा रहे थे क्योंकि सायंकाल दीपोत्सव होनेवाला था। संध्या होते ही समस्त स्तूप-वेष्टनी प्रज्ज्वलित दीपमालाओं से जगमगा उठी। बीच बीच में उल्काएँ स्थापित की गई थीं तथा अग्नि जलाने के लिये वेष्टनी के चतुर्दिक् लकड़ियों का ढेर एकत्र कर दिया गया था। एक एक करके संभ्रांत नागरिक सपरिवार सुसज्जित होकर वेष्टनी के भीतर समवेत हुए। भाँति भाँति के रत्नों और नाना प्रकार के अलंकारों से सुशोभित, विविध प्रकार की वेशभूषा धारण किए पुर-नारियों के एकत्र समागम से ऐसा भासित हो रहा था मानों वह विशाल पाषाण-वेष्टनी पुनः पुष्प-शृंगार से सुसज्जित कर दी गई है।

आलोकमालाओं से वह समस्त अंचल दीप्त हो उठा था। प्रत्येक पटमंडप, वस्त्रावास और पर्णकुटी दीपमाला से आलोकित थी। स्थान स्थान पर अग्निकुंड प्रज्ज्वलित थे। राजकर्मचारियों के निर्देशानुसार आसपास के वृक्ष तक दीपमालाओं से सुसज्जित कर दिए गए थे। जिस समय स्तूप तथा वेष्टनी से समस्त दीपक प्रज्ज्वलित कर दिए गए उस समय ऐसा प्रतीत हुआ मानों कोई विशाल आलोकमंडल चक्राकार घूमता और इधर उधर उल्कापुंज विकीर्ण करता हुआ उस नगरोपकंठ के मध्य में आकर स्थापित हो गया है। दीपोत्सव के साथ साथ उल्लास और उत्साह का वेग प्रबल होता गया और सुरा तथा तांबूल

की पण्यशालाओं में प्रवेश करना दुःसाध्य हो उठा। दीपमालाओं के प्रकाश तथा जनसमूह के कोलाहल से भीत होकर रात्रिचारी जीव बहुत दूर भाग गए। संध्या बीतने पर महाराज धनभूति ने अपनी राज-महिषियों के साथ स्तूप के गर्भगृह में प्रवेश किया। गर्भगृह में महा-स्थविर तथा नवागत गौरांग सज्जन पहले से विराजमान थे। महाराज और राजमहिषियों के आसन ग्रहण कर लेने पर उन श्वेतांग सज्जन ने सबको संबोधित करते हुए जो कुछ कहा उसी से उनका प्रकृत परिचय जाना जा सका।

वे बोले—'प्रियदर्शी महाराज तीस वर्ष पर्यंत प्रयत्न करके आर्यावर्त में जहाँ जहाँ भगवान शाक्यमुनि के भस्मावशेष थे वहाँ वहाँ से उनका संग्रह करके पाटलीपुत्र ले गए थे। प्रियदर्शी के देहावसान के अनंतर तथागत के भस्मावशेष का दर्शन मगधवासियों के अतिरिक्त अन्य किसी के लिये सहज-साध्य नहीं रह गया था। हम लोग बहुत प्रयत्न करके उद्यान प्रदेश के एक देवस्थान से किंचिन्मात्र अवशेष प्राप्त करने में समर्थ हुए हैं। मौर्य राजवंश का पतन होने पर जिस समय शकों द्वारा प्रताड़ित यवन जाति ने बाह्लीक से आकर कपिशा और उद्यान पर अधिकार किया था उस समय अनेक चैत्य स्तूपादि नष्ट हो गए थे क्योंकि यवन जाति में तब तक सद्धर्म के प्रति अनुराग नहीं उत्पन्न हुआ था और न वह यहाँ के निवासियों के प्रति सहानुभूतिशील हो सकी थी। आजकल यवन लोग इस देश के धार्मिक विश्वासों के प्रति आदर करना सीख गए हैं फलतः विदेशियों के राजत्वकाल में सद्धर्म की श्रीवृद्धि होने लगी है। सद्धर्म की उन्नति का सूत्रपात थोड़े ही दिनों से होने के कारण

उसका स्वरूप अद्यापि स्पष्ट नहीं हो सका है। इस सूत्रपीत के पूर्व जो कुछ संग्रह कर सका हूँ, संभवतः अब उसे संग्रह न कर पाता। तक्षशिला महाविहार में तीस वर्ष पर्यंत जीवन-यापन करके सद्धर्म के प्रकृत अनुयायियों का यत्किंचित् अनुग्रहलाभ करने में मैं समर्थ हुआ हूँ। आप विश्वास करें, तक्षदत्तात्मज सिंहदत्त के प्रति शतद्रु-तट से लेकर सुवास्तु नदी की उपत्यका तक के समस्त निवासी कृपाभाव रखते हैं। मैत्रेयनाथ के अनुग्रह से ही मैं भगवान गौतम का शरीरांश प्राप्त करने में कृतकार्य हो सका हूँ। महाराज! आपकी नगरी में जिन्होंने आश्रय लिया है वे समस्त आर्यावर्त के महास्थविरों के स्थविर, अर्हत्पाद एवं बोधिसत्वपाद हैं।

'आधी शताब्दी की अवनति के बाद सद्धर्म पुनरुज्जीवित हुआ है। जिनके संकेतमात्र से आर्यावर्त में एक के पश्चात् दूसरे प्रांत में धर्म के प्रति, बुद्ध के प्रति, संघ के प्रति अनुयायियों की सुषुप्त ममता जाग उठी है, जो मौर्यों के राजत्वकाल में महासंघ की वास्तविक महत्ता देख चुके हैं, उन्हीं के सत्प्रयत्न से यह महानुष्ठान सफल हुआ है। वे समस्त बौद्धजगत् के लिये प्रणम्य हैं। उन्हीं के आदेश से मैं तक्षशिला से तथागत का शरीरांश लेकर, सैकड़ों कोस का पथ पार कर, महाराज धनभूति की इस नगरी में उपस्थित हुआ हूँ। उन्हीं के प्रेरणानुसार यवन राज्य के शिल्पी यहाँ भेजे गए हैं और उन्हीं की प्रेरणा से सत्यधर्म के अनुयायियों ने स्तूप-निर्माण कार्य में अपनी पूरी शक्ति से मुक्तहृदय होकर सहायता दी है।'

महास्थविर उन नवागत गौरांग सज्जन की बातों पर संकोच से गड़ गए। किंचित् काल के अनंतर उन्होंने महाराज

धनभूति को संबोधित करते हुए कहा—'आप तक्षदत्त के सुपुत्र संघ-स्थविर सिंहदत्त का वास्तविक परिचय नहीं जानते। आज जो महापुरुष तथागत का भस्मावशेष लेकर तक्षशिला से इस वन्यदेश महाकोशल में आए हुए हैं वे किसी समय शतद्रु और विपाशा नदियों के मध्यवर्त्ती देश के अधिपति थे। वितस्ता नदी के तट पर इन्हीं के पूर्व-पुरुषों ने दुर्दम्य रूप से बढ़े आते हुए यवनराज के प्रचंड वेग का प्रतिरोध किया था। विजित होकर भी पौरव वंश का गौरव अक्षुण्ण रखनेवाले इन्हीं सिंहदत्त के पूर्वज थे। शकों द्वारा प्रताड़ित यवनों से जब समस्त पंचनद प्लावित हो गया और उस प्रदेश से आर्यों का आधिपत्य विलुप्त हो गया तब अधिकारच्युत होकर सिंहदत्त ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। इस घटना को घटित हुए तीस वर्ष बीत चुके और अब सिंहदत्त तक्षशिला-संघाराम के अध्यक्ष पद पर आसीन हैं। मैंने जिस समय तीर्थाटन के उद्देश्य से टक्कदेश की यात्रा की थी उस समय सिंहदत्त बालक थे। ये पौरव वंशाग्रगण्य तक्षदत्त की एकमात्र संतान हैं। कुमारपाद सिंहदत्त की अवस्था इस समय साठ वर्ष से ऊपर ही होगी। संघ के आश्रय में आकर इन्होंने अपनी कीर्ति का यथेष्ट विस्तार किया है। यह ठीक है कि इन्होंने शतद्रुतट से लेकर सिंधुनद पर्यंत तक के प्रदेश को यवन-रक्त से सिंचित नहीं किया, सहस्रों वर्षों से संचित पौरव वंश का अधिकार इनसे छिन गया, किंतु आज समस्त पंचनद इनके यशःसौरभ से परिपूर्ण हो गया है। सृष्टिकर्त्ता ने इसी कोटि के विजय-गौरव के निमित्त इन्हें उत्पन्न किया था। यवनों की आसुरी शक्ति से पराजित होकर भी इन्होंने अपनी आत्मिक शक्ति के द्वारा समस्त यवन जाति को

नतमस्तक कर दिया है। साकेत तथा माध्यमिका प्रदेश को लूट ले जाने वालों ने अंततः तक्षशिला के सिंहदत्त के चरणों में अपने को समर्पित कर दिया। कनिशा से लेकर गांधार पर्यंत तथा गांधार से लेकर शतद्रुतट पर्यंत के प्रदेश का इन तरुण महास्थविर के आत्मिक बल ने विजय कर लिया है। सद्धर्म के पुनरुत्थान का आज अंकुर मात्र दिखाई दे रहा है। मैं शताधिक वर्षों के घटनासमूह को देख रहा हूँ। अधिकाधिक उन्नति का समय दूर नहीं है। मौर्य साम्राज्य के समय आर्यावर्त्त के पश्चिम में जो मेघखंड दिखाई पड़ा था, मौर्यों की अवनति होने पर, उसी मेघ के जल से मुमूर्षु संघ में पुनः बल का संचार हुआ है। पश्चिमी प्रांत में पुनः मेघ दिखाई पड़ रहे हैं, कुरुवर्ष में आर्य जाति का तथा वाह्लीक में यवन जाति का आधिपत्य लुप्त हो गया है। उत्तर मरु से आनेवाली शक जाति ने समुद्रतरंग की भाँति आर्यावर्त के उत्तरी प्रदेश को आच्छन्न कर लिया है। महानदी ने किंचित् काल के लिये शकों का वेग अवरुद्ध कर दिया है किंतु इस अवरोध के कारण शकों की शक्ति दिन दिन बढ़ रही है। जिस दिन यह पुंजीभूत स्रोत बंधनमुक्त होगा उस दिन अपनी प्रचंड गति से आर्यावर्त्त का अधिकांश स्थान प्लावित कर डालेगा। इस स्रोत की गति यवनों की भाँति शतद्रुतट पर रुद्ध नहीं होगी; इसका वेग बड़ा प्रबल है। इसमें पड़कर समस्त प्राचीन आर्य सभ्यता डूब जा सकती है। किंतु जो कुछ भी अवशिष्ट रहेगा उसी से कल्याण-साधना करनी होगी। मरुवासी जातियाँ जब अपनी प्राचीन आवास-भूमि का परित्याग कर नवीन देश में उपनिवेश स्थापित करती

हैं तब यदि उस देश के आदिम निवासी संपूर्ण रूप से उसके प्रभाव द्वारा अभिभूत नहीं हो जाते तो शीघ्र ही पुनः अपने अधिकारों का किंचित् अंश प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं। बर्बर मरुवासी शीघ्र ही नवीन देश की प्राचीन सभ्यता के आगे नतमस्तक हो जाते हैं। इसलिये यदि पंचनद में सद्धर्म का अंकुर मात्र भी अवशिष्ट रहेगा तो आगे चलकर समस्त शक जाति को त्रिरत्न के आश्रय में आना पड़ेगा। मैं बहुत वृद्ध हो चुका हूँ; मानव-आयुष्य की मर्यादा का अतिक्रमण कर चुका हूँ, दृष्टि-शक्ति क्षीण हो चुकी है, किंतु मैं यह स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ कि सद्धर्म के पुनरुत्थान के दिन निकट आ रहे हैं। वे दिन अब बहुत दूर नहीं हैं। सद्धर्म का नवीन गौरव मौर्यकालीन लुप्तप्राय गौरव की अपेक्षा कहीं उज्ज्वल होगा। मेरे इस जीवन का कार्य समाप्त हो चुका, किंतु जन्म-चक्र अभी पूरा नहीं हुआ है इसलिये मुझे पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। शरीर-परिवर्त्तन का वह समय संनिकट है। परंतु जो लोग जीवित रहेंगे वे प्रत्यक्ष देखेंगे कि सद्धर्म के पुनरुत्थान का समय आ चला है। ब्राह्मण धर्म और सद्धर्म के घात-प्रतिघात में पड़कर आर्यावर्त्त के निवासी हीनबल हो चुके हैं। आर्यावर्त्त में अब ऐसी कोई शक्ति नहीं रह गई है जो शक जाति के दुर्द्धर्ष वेग का प्रतिरोध कर सके। शिक्षा और दूरदर्शिता के अभाव के कारण आर्यावर्त्त के राजाओं को आसन्न विपत्ति की कोई चिंता नहीं है। शक जाति का आक्रमण होने पर समस्त राजन्यवर्ग एक एक कर नष्ट हो जायगा।'

इतना कहकर महास्थविर मौन हो गए। किंचित् काल के

६

दूसरे दिन प्रातःकाल अधिकांश नगर-निवासी अर्चना के निमित्त स्तूप तक आए। उस तुषार-धौत प्रभातवेला में बालारुण की नव-रश्मियों से स्नात दल के दल नागरिक कौषेय वस्त्र धारण किए स्तूप का दर्शन, प्रदक्षिणा और अर्चना करके चले गए। दिन पर दिन बीतते गए तथा उस नवनिर्मित स्तूप की ख्याति चतुर्दिक् फैलने लगी। देश-देशांतरों के लोग स्तूप-दर्शन के लिये आने लगे। इसी प्रकार नवागंतुकों के कोलाहल के बीच बहुत दिन बीत गए। काल का हिसाब किताब करने की क्षमता यदि मुझमें होती तो स्तूप का संपूर्ण इतिहास मैं सुना देता, मगर पहले ही कह चुका हूँ कि यह क्षमता मुझमें नहीं है। अपने जन्म के पहले दिन से लेकर इस चित्रशाला में आने तक की सारी कथा मैं कह सकता हूँ, किंतु किसी भी घटना का काल-निर्देश करने की योग्यता मेरे पास नहीं है। कुछ काल बीत जाने पर जब स्तूप पुराना हो चला तब दर्शकों की संख्या भी क्रमशः घटने लगी। प्रति दिन प्रातः-काल निश्चित संख्या में स्थविर तथा स्थविराएँ स्तूप-दर्शन के लिये

आती थीं। दूर देश के तीर्थयात्री तथागत के भस्मावशेष-दर्शन की मनोकामना लेकर कभी कभी ही उस नगर में आते। उस दिन वृद्ध महास्थविर बड़े उत्साह से स्वयं गर्भगृह का द्वार उन्मुक्त करने आते थे। वे स्तूप-वेष्टनी के बाहर बने हुए लकड़ी के संघाराम में निवास करते थे। एक दिन देखा कि उन महावृद्ध महास्थविर का पुष्प-चंदन से शोभित शव भिक्षु लोग नगर की ओर लिए जा रहे हैं। शव पहुँचने पर नगर से आर्त्तनाद सुनाई पड़ा। उस प्रदेश से होकर बहनेवाली छोटी-सी नदी के तट पर महास्थविर की पुरातन काया भस्मीभूत कर दी गई। एक दिन सुना कि संघाराम - निवासी भिक्षुगण राजप्रासाद में बुलाए गए हैं और महाराज धनभूति का अंतिम काल निकट है। महाराज धनभूति की इहलीला भी समाप्त हो गई। उनके अवयस्क पुत्र को सिंहासन पर बैठाकर विश्वस्त राजकर्मचारीगण राज्य की सुरक्षा करने लगे। इस प्रकार कुछ दिन बीते, तदुपरांत तक्षशिला से समाचार आया कि सिंहदत्त ने भी निर्वाणलाभ कर लिया। इसके बाद ही प्रलयंकर झंझावत उठा।

पतनोन्मुख यवन जाति को जान पड़ता है सिंहदत्त ने ही सँभाल रखा था। स्वदेश, स्वधर्म और स्वभाषा से रहित यवन जाति में एकता का नितांत अभाव हो गया था। लकड़ी के टुकड़ों को बाँधनेवाली रस्सी की भाँति सिंहदत्त ने उसे एकत्र संयोजित कर रखा था। उस रस्सी के प्रभाव से ही यवन लोग शकों के प्रथम आक्रमण का प्रतिरोध करने में समर्थ हुए थे। शक द्वीप से निकलकर शकजाति के विभिन्न समूह टिड्डीदल की भाँति महानदी पार कर रहे थे और यह नदी अब

अनंतर निस्तब्धता भंग करते हुए सिंहदत्त ने कहा—'महाराज! मैंने यत्नपूर्वक सँजोया हुआ तथागत का शरीरांश आपके हाथों में समर्पित कर दिया। यदि कभी राज्य के दुर्दिन आएँ, यदि आपके राज्य में प्रजा कभी तथागत के धर्म के प्रति वीतराग हो जाय तो मेरा यह निर्विशेष अनुरोध है कि आप अथवा आपके उत्तराधिकारी हमारा यह शरीरांश हमें लौटा दें। तक्षशिला महानगरी के महाविहार में उस समय जो भी अध्यक्ष होंगे वे इसे आदरपूर्वक शिरोधार्य करेंगे। सिंहदत्त इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता कि जब तक नगरनिवासी तथागत के धर्म के प्रति निष्ठावान् बने रहेंगे तब तक हूणों के खड्गाघात से तक्षशिला के भिक्षुओं का मस्तक शरीर से पृथक् हो सकेगा अथवा उस अग्निदग्ध विशाल महाविहार की राख वायु के साथ उड़कर सिंधुतट तक पहुँच सकेगी। जिस दिन भस्माधार के ऊपर विशाल स्तूप टूटकर गिरेगा उस दिन तक्षशिला नगरी का अस्तित्व तक नहीं रहेगा; खस, हूण और दरद वंश के मेषपाल महाविहार के ध्वंसावशेष पर आनंद से भेड़ चराएँगे और आर्यावर्त्त में तक्षशिला का नाम लेनेवाला भी कोई नहीं रह जायगा।'

गर्भगृह से महाराज, सिंहदत्त, महास्थविर तथा राजमहिषियों के बाहर आने पर दोनों शिलापट्ट खट् से अपने स्थान पर बैठ गए। उत्सव-आमोद तब तक थम चला था, दीपमालाओं का प्रकाश मंद होने लगा था, हिमकणों से सिक्त शीतल वायु निद्रालस नागरिकों का स्पर्श कर रही थी, अधिकांश व्यक्ति नगर की ओर वापस जा चुके थे और पण्यशालाओं की पंक्तियाँ मानो किसी इंद्रजाल में पड़कर

विलुप्त हो चुकी थीं । केवल अत्यधिक सुरापान से मत्त नागरिकों तथा वारांगनाओं के शरीर शवों की भाँति पथ पर लुढ़के हुए थे । चिंताभार-ग्रस्त सब लोग नीरव भाव से रथ पर आरूढ़ होकर नगर को वापस लौटे । बचे हुए दीपों को परिचारकों ने बुझा दिया । जो अग्निकुंड जलाए गए थे उनमें से धुआँ उठने लगा । रक्षकों के अतिरिक्त उस प्रशस्त उपकंठ में और कोई नहीं रह गया । धीरे धीरे वायु का वेग बढ़ा और वृष्टि होने लगी । पथ पर सोए हुए जो लोग उस समय भी आनंद का उपभोग कर रहे थे वे छाया और आश्रय ढूँढ़ने लगे । झंझा और वृष्टि में नंगे शरीर स्तूप-वेष्टनी के दक्षिणी तोरण पर खड़े आर्चिमिदोर प्रतीक्षा कर रहे थे । अंधकार क्रमशः घनीभूत होने लगा और मूसलाधार वृष्टि होने लगी । निद्रा और छाया का परित्याग कर तोरणद्वार पर खड़े यवन शिल्पी किसकी प्रतीक्षा कर रहे थे, यह नहीं जान पाया ।

शकों तथा यवनों की मध्यवर्त्ती सीमा नहीं रह गई थी। कपिशा में शक राज्य की स्थापना हो गई थी। गांधार, उद्यान, उरस और टक्कदेश के यवन राजा आत्मरक्षा करने में समर्थ अवश्य हुए थे, किंतु इसमें कारणभूत थे सिंहदत्त और उनका प्रतापी प्रभाव। सिंहदत्त के न रहने पर आर्यावर्त्त के उत्तर-पश्चिमी सीमांत की सुरक्षा की कौन सी व्यवस्था होनी चाहिए, इसकी चिंता मध्यदेश के राजाओं को नहीं थी। वे लोग प्राचीन पौरव राज्य के अधःपतन से प्रसन्न थे और स्वधर्म-त्यागी सिंहदत्त की प्रभाव-वृद्धि पर उन्हें ईर्ष्या हो रही थी। किंतु सिंहदत्त उनके लिये क्या उद्योग कर रहे हैं, सिंहदत्त के न रहने पर उनकी क्या गति होगी, इस संबंध में कुरुक्षेत्र से लेकर पाटलीपुत्र तक के राजाओं में से कोई भी कुछ विचार नहीं कर रहा था। सिंहदत्त के उठ जाने पर मथुरा के राज्यच्युत महाराज रामदत्त ने बड़े क्षोभ और ग्लानि के साथ कहा था कि आज यदि वर्षीयान पौरव - महास्थविर जीवित होते तो मैं देखते देखते शक जाति को सुवास्तु नदी के उस पार खदेड़ भगाता।

स्तूप से संबद्ध संघाराम के निवासी भिक्षुगण प्रतिदिन पूर्वी तोरण के नीचे बैठकर आर्यावर्त्त की तत्कालीन परिस्थिति की आलोचना किया करते थे। उन्हीं के मुख से सुना करता था कि महासमुद्र की ऊर्मिमाला की भाँति शकजाति आर्यावर्त्त को आप्लावित करने के लिये बढ़ी चली आ रही है तथा सिंधु नद के पश्चिमी तट पर अब आर्यों का कोई अधिकार नहीं रह गया है। वाह्लीक के यवन राज्य का अधःपतन होने के अनंतर पारद-राज ने शकों का आक्रमण रोकने की चेष्टा की थी किंतु वह व्यर्थ सिद्ध हुई। सुदूर यवनद्वीप के निवासी तथा मिश्राइम में आंतियोक

एवं तुरमयवंशी राजा तक शकाक्रमण के भय से थर-थर काँपने लगे थे। पारद-वंश के चार राजा शकों का प्रतिरोध करने में अपने प्राण विसर्जित कर चुके थे और पाँचवें की स्थिति बड़ी संकटापन्न थी। क्रमशः शकों की वाहिनी निकट आती गई। उरनगर का कोई निवासी जालंधर में शकों की सेना देख आया था। उसके मुख से शक जाति का विवरण सुनने के लिये कौशांबी से राजदूत आए थे। कुछ दिनों में समाचार आया कि मथुरा में रामदत्त का तथा त्रिगर्त्त में उत्तमदत्त का पतन हो गया एवं अत्यंत प्राचीन चेदि राजवंश का अधिकार मत्स्यदेश से जाता रहा। एक दिन सुनाई पड़ा कि शक जाति इस नगर को भी लेने आ रही है। इस नगर की कोई बात तो मैंने बताई ही नहीं। धनभूति के बालक-राजकुमार क्रमशः वयस्क और वृद्ध होकर स्वर्गस्थ हो चुके थे एवं उनके पश्चात् उस वंश के दो और महाराज सिंहासन पर आरूढ़ हुए थे। शकों के आक्रमण के समय जो महाराज वर्तमान थे उनका सद्धर्म के प्रति वैसा अनुराग नहीं था। आर्यावर्त्त उस समय दाक्षिणात्य आंध्र जाति के अधिकार में था तथा सद्धर्म के विरोधी शुंगवंश का पतन हो चुका था। उन्हीं का अनुगमन करनेवाले अहिच्छत्र के काण्ववंशी विश्वासघातक ब्राह्मणगणों का भी उन्मूलन हो चुका था और आर्यावर्त्त के राजकाज में शिथिलता व्याप्त हो गई थी। पाटलीपुत्र में आंध्रराज के एक प्रतिनिधि रहते थे किंतु मगध के बाहर इसका कोई प्रभाव दृष्टि-गोचर नहीं होता था। जिस दिन संवाद प्राप्त हुआ कि शकराज की विशाल सेना ने नगर से पचास कोस की दूरी पर अपना शिविर स्थापित कर लिया है उस दिन महाराज को यह बोध हुआ कि सचमुच

मेरे दुर्दिन आ गए। मौर्य साम्राज्य का पतन होने पर शुंग राजा ने करद राजाओं को सम्राट् के यत्किंचित् प्रभाव में रखा था किंतु परवर्ती राजा बिलकुल क्षमताहीन थे और आर्यावर्त नाम मात्र के लिये आंध्र साम्राज्य के अंतर्गत रह गया था। अधिकांश आर्यावर्तवासी यह भी नहीं जानते थे कि आंध्र कौन हैं। कोई कहता था वे क्षत्रिय हैं और कोई उन्हें दस्यु बताता था। आर्यावर्त में, विशेष रूप से नगरों में, अधिकांश लोगों को इतना तक ज्ञात नहीं था कि दक्षिण देश के किस कोने में आंध्रों की राजधानी है। जिस दिन यह सुनाई पड़ा कि पचास सहस्र शक अश्वारोही नगर की ओर बढ़े चले आ रहे हैं उस दिन ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं दिखाई देता था जो महाराज की कुछ सहायता कर सकता। आसन्न विपत्ति की आशंका से व्याकुल नर-नारियों के झुंड नगर छोड़कर जंगल-पहाड़ों की ओर भागने लगे, भिक्षुगण ने संघाराम का परित्याग कर उज्जयिनी का पथ पकड़ा, एवं नगर में ऐसा कोई नहीं रह गया जो नगर-प्राकार की रक्षा कर सके। शक सैनिकों के आगमन का समाचार सुनकर राजमाता ने श्वेत वस्त्र धारण किया तथा भगवान बुद्ध के भस्मावशेष के संमुख उपस्थित होकर उन्होंने भूमि-शैया ग्रहण कर ली। तरुण महाराज मुट्ठी भर अंगरक्षकों को लेकर शक-सेना के आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिये कटिबद्ध हुए। जिन लोगों ने नगर का परित्याग नहीं किया था उनमें अधिकांश सुशिक्षित एवं रणकुशल सैनिक थे किंतु उनकी संख्या इतनी स्वल्प थी कि पचास हजार अश्वारूढ़ सेना के समक्ष थोड़ी देर टिकना भी उनके लिये संभव नहीं था।

दूसरे दिन प्रातःकाल नगर निस्तब्ध और जनशून्य हो गया था। न तो कृषक खेतों में हल चलाने आए और न मेषपाल पशु चराने। प्रति दिन प्रभात वेला में संघारामवासी भिक्षु तथागत के भस्मावशेष की अर्चना करने आया करते थे किंतु उस दिन वेष्टनी, स्तूप, गर्भगृह सभी जनशून्य थे, केवल गर्भगृह में मृतप्राय राजमाता भस्माधार के संमुख धूलि-धूसरित भूमि पर लुढ़की हुई थीं। थोड़ी देर में बहुत दूर पर एक साथ अनेक अश्वों के दौड़ने का शब्द सुनाई पड़ा। क्रमशः उत्तर दिशा में काले काले घनीभूत मेघों की भाँति शक सेना का अग्र-भाग दिखाई पड़ा और देखते देखते वह सेना नगर के उपकंठ में नदीतट तक पहुँच गई। उस समय सूर्य की पहली किरणों ने स्तूप के केवल शिरोभाग का स्पर्श किया था। रक्तवर्ण प्रस्तरों से निर्मित उस सुदृढ़ स्तूप एवं वेष्टनी को देखकर एक बार मानों वह सेना ठिठकी, तदनंतर सुशिक्षित, स्वस्थ और बलवान अश्वों ने एक एक छलाँग में उस क्षीणस्रोत नदी को पार कर लिया। सैनिकों के लौहनिर्मित उज्ज्वल वर्म्म और शिरस्त्राण प्रभातकालीन सूर्यरश्मियों में और अधिक चमक रहे थे। उनके चर्मनिर्मित काले काले परिच्छद, अदृष्टपूर्व आयुध तथा गहरे रक्तवर्ण मुखों को देखने मात्र से अत्यंत भय उत्पन्न होता था। अश्वारोहियों की समानांतर पंक्तियाँ उपकंठ को पार कर नगर की ओर निकल गईं और दो लाख अश्वक्षुरों से उठी हुई धूलि के कारण अंध-कार छा गया। सैनिकों की अंतिम पंक्ति शत्रुओं की खोज में स्तूप-वेष्टनी की ओर आई। वेष्टनी और संघाराम को रत्ती रत्ती ढूँढ़कर कुछ अश्वारोही तोरणमार्ग से होकर प्रदक्षिण-पथ की ओर गए।

अश्वारोहियों के पदशब्द से भयभीत राजमाता ज्योंहीं गर्भगृह से बाहर निकलने जा रहीं थीं त्योंही एक अश्वारोही द्वारा चलाया गया आठ हाथ लंबा शूल उनकी छाती में विंध गया। उनका मृत शरीर गर्भगृह के भीतर गिर पड़ा। स्तूप की खुदाई के समय स्वर्ण-खचित बहुमूल्य कौषेय वस्त्रों में लिपटी राजमाता की अस्थियाँ तुम लोगों ने पाई थीं। उन्हें अवज्ञापूर्वक तुम लोगों ने छोड़ दिया और संग्रहालय में नहीं लाए। उन श्वेतकेश गौरांग विद्वान् के परामर्श की भी तुम लोगों ने अवहेलना की थी। उस समय यदि उन अस्थियों का इतिवृत्त तुम्हें ज्ञात होता तो निश्चय ही तुम उन्हें सहर्ष उठा लाते। शक सैनिक का शूल महारानी की छाती फाड़ता हुआ मेरुदंड तक निकल गया था। उस भाले का फल तथा उसमें बिंधी हुई अस्थि का टुकड़ा इस समय ग्रामवासियों की उपासना का साधन है। शेष अस्थियाँ तथा बहुमूल्य वस्त्रादि धूल में मिलकर नष्ट हो गए हैं। नगर का पतन होने के दूसरे दिन संघाराम का एक वृद्ध परिचारक अत्यंत संतप्त और भीत अवस्था में स्तूप वेष्टनी और संघाराम की खोज-खबर लेने आया। गर्भगृह के द्वार पर पहुँचकर उसने देखा कि शूल-दंड का आधा भाग द्वार के बाहर रह गया है तथा महारानी का निष्प्राण शरीर पास ही धूलि में पड़ा हुआ है। बहुत यत्न करने पर भी वह मृत देह में से शूल को बाहर निकालने में कृतकार्य नहीं हो सका। उसके जराजीर्ण शरीर और दुर्बल हाथों में इतनी शक्ति नहीं थी कि मेरुदंड में कसकर धुसा हुआ फलक खींच निकालता। मृत शरीर को धीरे धीरे उठाकर उसने गर्भगृह के एक कोने में रखा

और संघाराम से लकड़ियाँ लाकर उसके लिये अरथी बनाने में जुट गया। अरथी लगभग बन चुकी थी कि दूर पर घोड़ों की टाप सुनाई पड़ी। लकड़ियाँ और अस्त्र वहीं छोड़ कर वह परिचारक भागने का उपक्रम करने लगा। स्तूप के बाहर आकर उसने देखा कि केवल एक अश्वारोही स्तूप की ओर बढ़ा चला आ रहा है जिसका उष्णीष भारतीय सैनिकों की भाँति है। यह देखकर वह कुछ आश्वस्त हुआ और तोरणद्वार पर खड़ा खड़ा उसकी प्रतीक्षा करने लगा। पास आने पर परिचारक ने उसे पहचान लिया। वह नगर-रक्षक सैनिक था। दोनों ने नगर के पतन के संबंध में परस्पर बहुत सी बातें कीं और अंत में महारानी का शव अरथी में रखकर गर्भगृह के एक कोने में स्थापित करके दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया। गर्भगृह का द्वार थोड़ी देर के लिये अवरुद्ध हो गया। सैनिक कह रहा था कि शक सेना वात्याचक्र की भाँति नगर-प्राचीर पर टूट पड़ी थी और क्रमशः परिखा तथा प्राचीर को पार करती हुई नगर के भीतर पिल पड़ी। फिर तो मुहूर्त्त मात्र में सब कुछ स्वाहा हो गया। कोई नगररक्षक जीवित नहीं बचा। चलने-फिरने में अशक्त एक वृद्ध भिक्षु ने दक्षिण दिशा वाले नगर-तोरण के आकाश-कक्ष में छिपकर यह समस्त घटना देखी है। नगर का पतन होने के अनंतर कुछ नागरिक आए और मृतकों की उत्तरक्रिया करके चले गए। इन लोगों ने पहाड़ी भूमि में जाकर आश्रय लिया है और शकों के अत्याचार की आशंका के कारण किसी में अभी समतल भूमि पर आने का साहस नहीं है।

दिन पर दिन बीतता चला गया परंतु हम लोगों के पास मानव-समाज पुनः समवेत नहीं हुआ। प्रदक्षिण पथ पर धीरे धीरे घास-फूस जम गया और मृगों के समूह वेष्टनी के भीतर-बाहर निर्भय होकर विचरण करने लगे। कुछ काल के अनंतर मैंने देखा कि नगर के भीतर और उसके आसपास अनेक बृहदाकार वृक्ष जम गए हैं। प्रस्तर-प्राचीर से चतुर्दिक् घिरे हुए नगर की ओर देखने पर जान पड़ता था मानों यह किसी श्रेष्ठि का सुरक्षित उद्यान है। धीरे धीरे आसपास भी वृक्ष उगने लगे। और कुछ काल व्यतीत होने पर नगर वृक्षों में छिप गया। मेरे पार्श्व में एक लता उग आई थी। ग्रीष्म ऋतु के भयंकर उत्ताप में भी वह मेरी छाया पाकर जीवित बची रही। वह बहुतेरी बातें बताया करती किंतु उसका क्षीण स्वर मेरे कानों तक पहुँच नहीं पाता था। जान पड़ता है इसीलिये वेष्टनी-स्तंभ के सहारे वह मेरे पास तक बढ़ आई और आकर उसने मेरी कठोर काया को चारों ओर से लिपटा लिया। जब तक वह जीवित रही तब तक मैं उसे अतीत की कथा सुनाता रहा और सुन सुनकर वह चकित-विस्मित होती रही। अपने जीवन में उसने कभी मानव जाति के दर्शन किए ही नहीं थे, इसलिये श्वेतकाय, कृष्णकाय तथा मिश्रित वर्ण के मनुष्यों की बातें सुनकर उसे अत्यंत आश्चर्य होता था। स्तूप के ऊपर वाले छत्र पर एक छोटा-सा पीपल का पेड़ उग आया था। धीरे धीरे बढ़-कर वह छोटा-सा पेड़ अत्यंत प्रकांड वृक्ष में परिणत हो गया। उसके भार से एक दिन वर्षा ऋतु में रात्रिवेला में सात छत्रों से शोभित वह शिरोभाग अरराकर गिर पड़ा। एक दिन मृग-समूह मेरी संगिनी

लतिका का अधोभाग चर गए और वह दारुण यंत्रणा के कारण रो उठी। मृगों का समूह चुपचाप आकर घास-फूस को आत्मसात कर जाने लगा परंतु उसकी भाषा किसी की समझ में नहीं आई। धराशायी पीपल की शाखा-प्रशाखाओं ने कंपित होकर समवेदना प्रकट की और कहा कि हम भी तुम्हारी ही तरह यंत्रणा भोग रही हैं। दो तीन दिनों के सूर्योत्ताप से लता सूख गई। बाद में महाराजाधिराज कनिष्क के परिचारक जब उस स्थान का पुनः संस्कार करने आए तब उन्होंने उसे उठाकर कहीं दूर फेंक दिया।

एक दिन मध्याह्न में बहुत दूर पर हाथियों का पदशब्द सुनाई पड़ा। पहले जिधर नगर का उपकंठ था उधर से ही धीरे धीरे विशाल वृक्षों के गिरने का शब्द, सूखे हुए पत्तों का मर्मर और वेत्रलता को उत्पाटित करने का शब्द आने लगा। वनवासी जीवजन्तु भय के मारे स्तूप से बहुत दूर भाग गए। दिन के तीसरे प्रहर के लगभग अपनी पीठों पर कुछ मनुष्यों को बैठाए चार हाथी वन में से आए। तोरण द्वार के पास आने पर समस्त आरोही भूमि पर उतर गए। इनमें दो व्यक्तियों के शरीर पर भेड़ के चमड़े का बना आच्छादन था, दो भिक्षुओं के शरीर पर मैला-सा काषाय वस्त्र था और एक सैनिक उज्ज्वल वर्म्म धारण किए हुए था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक हाथी के कंधे पर एक एक हस्तिपक बैठा था। वेष्टनी के भीतर प्रवेश करने के बाद यह दल बहुत आगे नहीं बढ़ सका क्योंकि वेत्रलताओं के कारण पग पग पर बाधा पड़ती थी। बाध्य होकर वे शीघ्र ही लौट आए। इन लोगों की बातचीत से मुझे ज्ञात हुआ कि मेषचर्म का परिधान

पहने हुए व्यक्तियों के पूर्वज नगर में रहा करते थे। शकों के आक्रमण से बाध्य होकर उन्हें पार्वत्य प्रदेशों में आश्रय ग्रहण करना पड़ा था और आज तक उनके वंशजों को वन-पर्वत का परित्याग करने का साहस नहीं हुआ है। शक जाति अब भ्रमणशील नहीं रही और उसने आर्यावर्त्त में अपना विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया है। नवागत कुषण अथवा गुषण वंश समस्त शक जाति का संघटन करके अत्यंत पराक्रमी हो गया है। महाराज कनिष्क कुरुवर्ष से लेकर दक्षिणापथ की उत्तरी सीमा तक के समस्त भूमंडल के अधिपति हैं। इससे भी बढ़कर विस्मयजनक बात यह हुई है कि दुर्द्धर्ष शक जाति सद्धर्म के प्रति अनुराग भाव रखने लगी है। देवानांप्रिय महाराज अशोक प्रियदर्शी के समान ही कनिष्क भी सद्धर्म का संरक्षण कर रहे हैं। सद्धर्म के प्रचारार्थ जंबूद्वीप के भिक्षुगण पुनः चीन, किरात, मरु, इत्यादि देशों में भेजे गए हैं। प्राचीन तीर्थस्थानों के पुनरुद्धार की चेष्टा की जा रही है। कपिलवस्तु में, महाबोधि में, वाराणसी में, कुशीनगर में, श्रावस्ती में, वैशाली में, कौशांबी में, संकाश्य में, विदिशा में, मथुरा में, जालंधर में, तक्षशिला में, नगरहार में, पुरुषपुर में, कपिशा में तथा वाह्लीक में सद्धर्म का संघटन आरंभ हो गया है। बहुत सी पुरानी स्मृतियाँ इस समय जाग्रत हो रही हैं! उत्सव के दिन कपिलवस्तु के एक भिक्षु लुंबिनी ग्राम की मिट्टी लेकर आए हुए थे, पाटलीपुत्र के किसी महापुरुष ने स्तूप-निर्माण के समय पर्याप्त सहायता पहुँचाई थी, महाबोधि से कोई वृद्ध भिक्षु बोधिवृक्ष की एक छोटी सी शाखा लाकर स्तूप-वेष्टनी के बाहर

लगा गए थे। विदिशा के निकट निर्मित सारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन के स्तूप का संरक्षण करनेवाले दो एक भिक्षु भी उत्सव में संमिलित हुए थे। महाराज धनभूति के पिता मथुरा में स्तूप-वेष्टनी के स्तंभ और सूची पर अपना नाम चिरस्थायी कर गए थे। तक्षशिला से सिंहदत्त का भी आगमन हुआ था। सिंहदत्त तथा महास्थविर का कथोपकथन भी स्मरण हो रहा है। तक्षशिला महाविहार की वर्तमान अवस्था जानने के लिये मन व्याकुल हो रहा है। मेरी भाषा को समझ सकने की क्षमता यदि होती तो उन लोगों ने अवश्य मेरी बातों का उत्तर दिया होता क्योंकि मैं इस समय जिस प्रकार अपनी आपबीती सुना रहा हूँ, ठीक उसी प्रकार से चिरकाल से सुनाता आ रहा हूँ; मेरी वाणी में इससे अधिक स्पष्टता कभी रही ही नहीं।

सुनता हूँ, स्तूप और वेष्टनी का संस्कार होगा, तीर्थयात्रियों की सुविधा के लिये गहन वन से होकर मार्ग बनाया जायगा और उसी मार्ग से होकर राजाधिराज देवपुत्र षाहि कनिष्क स्तूप का दर्शन करने पधारेंगे। सायंकाल संनिकट देख आगंतुकों ने प्रस्थान किया। मलिन काषाय वस्त्रधारी भिक्षु उपत्यका के जनपद में पौरोहित्य का कार्य करते थे, मेषचर्मधारी दोनों व्यक्ति नागरिकों की संतान थे, किंतु वर्म्मधारी व्यक्ति विदेशी थे। वे शक साम्राज्य के कोई संभ्रांत राजकर्मचारी थे और राज्यादेश के अनुसार तथागत के भस्मावशेष वाले गर्भस्तूप का पता लगाने आए थे। दूसरे दिन प्रातःकाल उस वन के प्राचीन महाकाय वृक्ष उखाड़े जाने लगे। तुम लोगों ने उस रास्ते को देखा है। ग्रामीण स्त्रियाँ आज भी उस मार्ग को गोबर से लीपकर परिष्कृत किया

करती हैं। मार्ग बन जाने पर स्तूप और वेष्टनी स्वच्छ की गई। श्रमिक लोग आने लगे और उस वनप्रदेश में धीरे धीरे एक गाँव बस गया। स्तूप का संस्कार आरंभ हो गया। एक दिन मध्याह्न वेला में उस नव-निर्मित प्रस्तर-मार्ग पर पहिए की घरघराहट सुनाई पड़ी। आनेवाले शकटों को देखने के लिये हम लोग उत्कंठापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे, सोच रहे थे कि महाराज पधार रहे हैं। परंतु दो प्रहर काल व्यतीत होने पर दिखाई पड़ा कि बृहदाकार शकटों पर लादकर रक्तवर्ण प्रस्तर स्तूप की ओर लाए जा रहे हैं। प्रत्येक शकट में दो दो हाथी जुते हुए थे। उन रक्तवर्ण पाषाणों को मैं देखते ही पहचान गया। दूर से ही उनकी बोली समझ गया। वे मेरे सजातीय पाषाण-बंधु थे। समुद्र के गर्भ से हम लोगों ने एक ही साथ जन्म लिया था और पर्वत के तल-प्रदेश में बहुत दिनों तक एक साथ निवास किया था। वे मेरे लिये नए नहीं प्रत्युत बिलकुल अभिन्न थे। उन्होंने बताया कि हम लोगों के आने के पश्चात् पर्वत का वह विदीर्ण वक्ष बहुत शीघ्र वनस्पतियों से आच्छादित हो गया और बहुत दिनों तक फिर किसी ने उनके शरीर पर विशेष आघात नहीं पहुँचाया। कभी कभी दो-चार मनुष्य आकर उनके शरीर पर ठोंक-ठाक किया करते थे किंतु पहले जैसा दारुण आघात उन्होंने नहीं किया। आघात करके कभी कोई मनुष्य प्रस्तर-खंड प्राप्त करने में सफल हो जाता था, कभी कोई मनुष्य हताश होकर वापस लौट जाता था। थोड़े दिन पहले मेषचर्मधारी कतिपय मनुष्य पर्वत-शिखर से उतरकर पाषाणों की जाँच-पड़ताल करने आए थे। कुछ दिनों के अनंतर अब श्रमिक लोग उन्हें लिए आ रहे हैं। मनुष्यों

ने जिस प्रकार हमारा छेदन किया था, जिस नगर में हमें लिवा लाए थे और जिस प्रकार हमारा संरक्षण किया था, ठीक उसी प्राकार का व्यवहार इन प्रस्तरों के साथ भी हुआ फलतः इन्हें ब्राह्मणों अथवा सद्धर्म के किन्हीं अन्य शत्रुओं के द्वारा किसी प्रकार की बाधा अथवा क्षति नहीं पहुँची। हम लोगों ने अनुमान किया कि सद्धर्म के चिरशत्रु ब्राह्मणों से महाकोशल शून्य हो गया है। नवीन पाषाणों के द्वारा स्तूप तथा वेष्टनी का संस्कार आरंभ हो गया, स्तूप का सतछत्रधारी शिखर पुनः आकाश छूने लगा, टूटे हुए अथवा फटे हुए प्रस्तरों के स्थान पर नवीन प्रस्तर बैठाए गए, स्थान-च्युत प्रस्तरों को पुनः यथास्थान जुड़ाया गया एवं स्तूप तथा वेष्टनी की पूर्वशोभा एक बार पुनः लौट आई। सुदूर मथुरा से शक-सम्राट् अपने चर यह देखने के निमित्त भेजा करते थे कि जीर्णोद्धार कार्य कहाँ तक अग्रसर हुआ। उज्ज्वल वर्म्म तथा नुकीले शिरस्त्राण धारण किए स्वल्पश्मश्रु शक अश्वारोही गण क्षुद्रकाय पहाड़ी घोड़ों पर चढ़े संस्कार-कार्य का निरीक्षण करने आया करते थे। घोड़ों के पदशब्द सुनते ही हम लोग समझ जाते थे कि शकराज के दूत आ रहे हैं।

स्तूप, वेष्टनी, प्रदक्षिण पथ एवं संघाराम का जीर्णोद्धार कार्य संपन्न हो गया। धीरे धीरे संघाराम में भिक्षुओं की संख्या भी बढ़ने लगी। नाना देशों के भिक्षु राजकृपा की अभिलाषा से वनप्रदेश में निर्मित उस संघाराम में आकर निवास करने करने लगे। वह छोटा-सा ग्राम क्रमशः बहुत बड़ा हो गया। अपराह्न में भिक्षुगण स्तूप की छाया में बैठकर परस्पर कथोपकथन किया करते

थे। उनके वार्तालाप में पृथिवी भर की चर्चा हुआ करती थी। उन्हीं से ज्ञात हुआ कि हुविष्क युवराज पद पर अभिषिक्त किए गए हैं क्योंकि सम्राट् चीनदेश की युद्धयात्रा पर जानेवाले हैं। सम्राट् ने चीनराज की कन्या के पाणिग्रहणार्थ संदेश भेजा था किंतु विशाल चीनदेश के महाराज ने अवज्ञापूर्वक उनके दूत की अवहेलना की है। इसी के प्रतिशोध के लिये कनिष्क चीन साम्राज्य पर आक्रमण करेंगे एवं हुविष्क अपने पिता की जीवितावस्था में ही राजा की उपाधि धारण करनेवाले हैं।

बहुत अधिक द्रव्य व्यय करके स्तूप और वेष्टनी का जीर्णोद्धार हुआ किंतु उसमें तथागत के भस्मावशेष का पता नहीं चला। गर्भगृह का द्वार किधर है, इसे कोई नहीं जानता। यक्षों ने भविष्यवाणी की है कि बिना महाराज के पधारे गर्भगृह का द्वार उन्मुक्त न होगा और न तथागत का भस्मावशेष लोगों के दृष्टिगोचर होगा। यक्षों की भविष्यवाणी महाराज के श्रवणगोचर हुई है और चीन युद्ध के आयोजन में विशेष व्यस्त होते हुए भी वे आनेवाले हैं। वे तथागत के भस्मावशेष का दर्शन करने के उपरांत चीन युद्ध के लिये प्रस्थान करेंगे। भिक्षु समुदाय इन्हीं सब बातों की आलोचना-प्रत्यालोचना बारंबार कर रहा था।

सम्राट् पधार रहे हैं। एक बार फिर उत्सव होगा; किंतु अपने जीवन में प्रथम बार मनुष्य जाति का जैसा उत्सव मैंने देखा था वैसा क्या फिर कभी देख सकूँगा! पहले ही बता चुका हूँ कि उसके पश्चात् मैंने सैकड़ों उत्सव देखे परंतु वैसा आनंद फिर कभी उपलब्ध नहीं

हो सका। प्रत्येक उत्सव में कोई न कोई नवीनता रहती थी, उस नवीनता को देखकर आनंद भी होता था, किंतु वह आनंद क्षणिक होता था; अथ से लेकर इति पर्यंत आनंद में निमग्न रखने वाला उत्सव फिर कभी नहीं देखा। इसका कारण जानते हो? प्रथम उत्सव के समय मानव जाति नवीन थी। अब वह नवीनता जाती रही। मानव-नियोजित समस्त नवीनताएँ प्रभाहीन हो चुकी हैं। प्रथम उत्सव तो मानों पुष्पोत्सव था; उस वन्य नगरी की समस्त पुष्पराशि लाकर नागरिकों ने हमारे चरणों पर उत्सर्ग कर दिया था। द्वितीय उत्सव साज-सज्जा तथा बाह्याडंबर का उत्सव था। यह उत्सव यद्यपि हम्हीं लोगों के निमित्त आयोजित हुआ था तथापि ऐसा भासित होता था मानो यह उत्सव हमारा नहीं है। उस समय भी जान पड़ता था, और सुदूर अतीत के इस पार आकर आज भी जान पड़ता है कि यह उत्सव हम लोगों का नहीं था, यह था कनिष्क का। भगवान तथागत के भस्मावशेषधारी गर्भस्तूप के अभिनंदनार्थ इस उत्सव का आयोजन नहीं किया गया था, अपितु यह उत्सव कुरुवर्ष से लेकर दक्षिणापथ तक विस्तृत विशाल शक साम्राज्य के अधीश्वर सम्राट कनिष्क का उत्सव था। महाराजराजाधिराज देवपुत्र षाहि कनिष्क तीर्थयात्रा के निमित्त पधारने वाले थे और उन्हीं की अभ्यर्थना के निमित्त इस उत्सव का आयोजन हुआ था। मेषचर्मधारी पर्वत-निवासियों के लिये ऐसे उत्सव का प्रबंध कर सकना नितांत असंभव था। साम्राज्य के अधीश्वर के निमित्त साम्राज्य की समस्त शक्ति और क्षमता का नियोजन करके उस उत्सव की व्यवस्था की गई

थी। यह उत्सव वनवासी जाति का नहीं, पर्वतों के उपकंठ में निवास करनेवाली बर्बर जाति का नहीं, प्रत्युत सप्तद्वीपवासी प्राचीन सभ्य जगत् की समस्त मानव जाति की संमिलित चेष्टा का प्रतिफल था। इस अवसर पर नागरिकों ने वन-उपवन से पत्र-पुष्पों का संग्रह नहीं किया, पार्वत्य बर्बर जाति सृष्टिकर्त्ता के उद्यान में अनायासलभ्य पुष्पराशि का संग्रह करके ला नहीं सकी। प्राचीन वन्य नगरवासियों के वंशजगण दूरस्थ पर्वत-शिखरों पर खड़े खड़े उत्सव देख रहे थे; उनमें उत्सव-क्षेत्र के पास तक आने का साहस भी नहीं होता था। यहाँ तक कि मेषचर्मधारी जो पथप्रदर्शक गहन वन में से होकर शक राजपुरुषों को हमारे पास तक लिवा लाया था उसे भी आने नहीं दिया गया। भिक्षुओं के उस छोटे से संघ में चर्चा होती थी कि चीन युद्ध के लिये संघटित विशाल सेना के साथ सम्राट् तीर्थयात्रा के लिये आ रहे हैं। पाँच लाख पैदल तथा अश्वारोही सेना को लेकर उन्होंने मथुरा से प्रस्थान कर दिया है। इन पाँच लाख के साथ साम्राज्य के प्रधान प्रधान राजपुरुष एवं विभिन्न धर्मावलंबी संभ्रांत व्यक्ति आ रहे हैं। उनकी यात्रा-व्यवस्था तथा सेवा-सुविधा के लिये समस्त आर्यावर्त्त में प्रबंध किया जा रहा है। इन पाँच लाख सैनिकों में शकद्वीप, वाह्लीक, कपिशा, गांधार, उरस, काश्मीर, टक्क, त्रिगर्त्त, उद्यान, मरु, जालंधर, मायापुर, शूरसेन, मत्स्य, अहिच्छत्र, कान्यकुब्ज, वाराणसी, करुष, कीकट, तीरभुक्ति, यहाँ तक कि राढ देश पर्यंत के सैनिक हैं। इनके अतिरिक्त नुकीले शिरस्त्राण धारण किए दुर्द्धर्ष शक सैनिक भी हैं। कुषाण वंश के अभ्युदय के साथ साथ आर्यावर्त्त-

वासी यवनगण अपने स्वाभिमान को तिलांजलि देकर शक-सम्राट् के वेतनभोगी कर्मचारी हो गए हैं। चर्मधारी शक अश्वारोहियों के आक्रमण का प्रबल वेग सहन न कर सकने के कारण काश्मीर के उत्तरी सीमांत में वास करने वाली, तुषार के समान अत्यंत गौरवर्ण दरद जाति ने शक सम्राट् को आत्मसमर्पण कर दिया है और इसके अनेक दल शक-सेना में भरती हो गए हैं। दरदों के समान कष्ट-सहिष्णु दूसरी कोई जाति नहीं होती, श्वान के समान उनकी दृष्टिशक्ति और घ्राणशक्ति तीव्र होती है। घ्राणशक्ति से ही वे अनुभव कर लेते हैं कि पास में कहीं शत्रु है अथवा नहीं। घास-पात से युक्त मार्ग पर मनुष्यों के पदचिह्न का अनुसरण करते हुए वे बहुत दूर तक चले जाते हैं। शक-सेना में दरद जाति के अतिरिक्त दूसरी किसी जाति को चर का कार्य नहीं सौंपा जाता। छोटे से भिक्षु संघ में ऐसी ही चर्चा हुआ करती, हम लोग सुनते रहते और प्रथम उत्सव की बातें सोचा करते थे।

टिड्डीदल की भाँति श्रमिकों ने आकर विस्तृत वन्य प्रदेश के वृक्ष-समूह का उच्छेद कर डाला। एक दिन दूर पर मिट्टी का ऊँचा-सा प्रशस्त पिंड दिखाई पड़ा; कोई जैसे हम लोगों से कह गया कि यह वही नगर है जिसके निवासी हम लोगों को पर्वत के उपकंठ से उठा लाए थे। जिन नगरनिवासियों ने तथागत के भस्मावशेष को स्तूपगर्भ में प्रतिष्ठापित किया था उनका अत्यंत यत्न और परिश्रम से तैयार किया हुआ नगर आज मिट्टी का ढेर हो गया है। जिस बृहदा-कार तोरण-पथ से होकर हमें नगर के भीतर लाया गया था उस तोरण

का कहीं चिह्न भी नहीं था। उस प्रशस्त पिंड के ऊपर मानों किसी ने छोटे-छोटे दो और पिंड बना दिए थे। ऐसा प्रतीत हुआ मानों कोई कह रहा हो कि ये ही उस विशाल तोरण के ध्वंसावशेष हैं। मैं भूल नहीं सका; उस प्रकांड आयोजन के कोलाहल में भी ऐसा प्रतीत हुआ मानों तोरण मार्ग से होकर देवयात्रा निकल रही है, स्मृति पटल पर वार्द्धक्य-भार से अवनत महास्थविर, चिरस्मरणीय पौरववंशी सिंहदत्त और महाराज धनभूति के चित्र उभर आए। सिंहदत्त की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। वर्षाकाल में सिंधुनद की प्रचंड बाढ़ में मुट्ठी भर तृण की जो गति होती है वैसे ही आर्यावर्त्त के देशी और विदेशी राजे शक जाति के संमुख बह गए। शक सम्राट् की शक्ति का प्रभाव आर्यावर्त्त के पूर्वी समुद्र तट पर्यंत अनुभूत होता था। कनिष्क ने अपने सुदीर्घ और सबल हाथों में राजदंड धारण किया था। हिमाच्छादित कुरुवर्ष के उत्तर में मरु से लेकर बाबिरुष एवं मिश्राइम से वाणिज्य-संपर्क रखनेवाले भृगुकच्छ तक के विस्तृत प्रदेश महाराज कनिष्क के अंगुलि-संचालन मात्र से काँप उठते थे। दूरदर्शी सिंहदत्त ने बिलकुल ठीक कहा था; सद्धर्म के दिन भी लौट आए थे, अन्यथा वन्य पशुओं से परिपूर्ण जंगल को पारकर, पार्वत्य प्रदेश से पथप्रदर्शक बुलाकर, शक राजकर्मचारी तथागत के भस्मावशेषधारी स्तूप-गर्भ का अनुसंधान करने क्यों आते?

सम्राट् की अभ्यर्थना का प्रबंध करनेवालों ने जो वृक्ष उखाड़े थे उन्हीं के द्वारा नगर का निर्माण हुआ। इसी काष्ठ-निर्मित नगरी के कतिपय खंड पाकर तुम लोगों ने यह स्थिर कर रखा है कि प्राचीन

काल में यहाँ प्रस्तर-शिल्प का अभाव था। तुम सब लोग नाक की सीध में चलनेवाले लकीर के फकीर हो, तुम समझते हो कि यही एक-मात्र पथ है। इस पथ पर चलकर दुर्गम वन में पहुँचने पर अगल बगल जो विश्वासघाती शत्रु छिपे मिलेंगे उनकी ओर तुमने बिलकुल ध्यान नहीं दिया है। स्तूप के पार्श्व में कारुकार्य-खचित काष्ठ-खंडों को पाकर तुमने यह स्थिर कर लिया है कि पाषाण-निर्मित स्तूप के पहले इस स्थान पर काष्ठ-निर्मित स्तूप था, किंतु तुममें से किसी ने इस बात की कल्पना तक नहीं की कि स्तूप तक आनेवाले तीर्थ-यात्रियों के लिये काष्ठ-प्रासाद का निर्माण हो सकता है। अतीत काल ने ध्वंसावशेषों को स्तर स्तर करके व्यवस्थित रूप में सजाकर नहीं रख छोड़ा है। प्राकृतिक आलोड़न में पड़कर ऊपर का स्तर नीचे हो गया है, नीचे का ऊपर आ गया है और बीच का स्तर कहीं अन्यत्र स्थानांतरित हो गया है। अतीत की गति का निरूपण करने के लिये जिस विश्लेषण-शक्ति की आवश्यकता होती है वह सबके पास नहीं होती; उसकी उपलब्धि ज्ञान का विशेष रूप से अर्जन करने पर, गुरु-परंपरा के द्वारा शिक्षा प्राप्त करने पर होती है; एक दो दिनों में उसे पाना संभव नहीं है। श्वेतांग राजकर्मचारियों ने स्तूप के दक्षिणी तोरण के पास कुआँ खोदते समय जो कलापूर्ण काष्ठ-खंड पाया था वह प्रस्तर-युग से पहले का नहीं अपितु शक-कालीन था। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। मैं तो अतीत का साक्षी हूँ, मेरी बात पर विश्वास करो। मुझमें यदि काल-निरूपण की शक्ति होती तो तुम तुम लोगों की भाँति वर्षों, मासों और दिनों में इसकी गणना करके

रख देता। तुम लोग प्रत्यक्षवादी हो, बिना चाक्षुष प्रमाण के किसी बात पर विश्वास करना नहीं चाहते। मेरे पास यदि आँखें होतीं तो मैं तुमसे यह कहता कि इस दृश्यावली को मैंने प्रत्यक्ष देखा है। जानता नहीं कि तुम लोगों की भाषा में इंद्रिय-विहीन पाषाण की अनुभव शक्ति को किस प्रकार ठीक ठीक व्यक्त करना चाहिए। सहस्रों वर्षों के अनुसंधान से तुम लोगों ने उसका कण मात्र जान पाया है, सृष्टिकर्त्ता की शिल्पकला का आभास मात्र तुम्हें मिला है। उसी आभास को प्रत्यक्ष साक्ष्य मानकर मेरी बात पर विश्वास करो। शकों के समय कनिष्क के राज्यकाल में स्तूप के पास जो काष्ठ-नगरी निर्मित हुई थी, तुम लोगों ने उसी का काष्ठखंड पाया था, मानव-सभ्यता के आरंभ का नहीं।

नगर का निर्माण हो गया। विशाल शक साम्राज्य में जो कुछ दुष्प्राप्य और बहुमूल्य था उसे ला-लाकर राज-कर्मचारियों ने उस काष्ठ-नगरी को सजाया। प्राचीन वन्य नगरी के किसी निवासी ने इतना विपुल साज संभार एकत्र होते कभी नहीं देखा था। उन्होंने बहुत प्रयत्न करके, अत्यंत परिश्रमपूर्वक शिलाओं का संग्रह करके एवं समस्त आर्यावर्त्त से द्रव्य की सहायता लेकर भस्मावशेषधारी गर्भ-स्तूप का निर्माण किया था। राजकर्मचारियों के आदेशानुसार हम लोगों के प्राचीन निवास-स्थान अर्थात् पर्वत के उसी पाद-प्रदेश से बहुत से प्रस्तर-खंड काष्ठ-नगरी का पथ निर्माण करने के लिये ले आए गए। पथ पर बिछे हुए शिला-खंडों पर सिंदूर-लेपन करके बर्बर ग्रामवासी उसके समक्ष शूकरों और कुक्कुटों की बलि देते थे। उस पथ को

आलोकित करने के लिये जो दीपस्तंभ बनाया गया था उसे देखते तो तुम लोग आश्चर्यचकित हो जाते। भूमि पर लेटे हुए एक तुंदिल गण के वक्ष पर खड़ी होकर वनदेवी एक चंपक वृक्ष से फूल तोड़ रही थीं, उनके शिर के ऊपर चंपक वृक्ष की शाखा में दोलायमान काँच का दीपाधार था। तुम लोगों ने मथुरा की स्तूप-वेष्टनी के स्तंभ पर इस प्रकार की मूर्तियाँ अवश्य देखी होंगी। काष्ठ-नगरी में नित्य रात्रिवेला में इस प्रकार के लाखों दीपाधारों का व्यवहार होता था। किंचित् कल्पना करो कि कितना द्रव्य व्यय करके, कितना परिश्रम करके तीर्थ-यात्रियों के निवास-स्थान का निर्माण हुआ होगा। वह स्वप्न की कल्पना थी और स्वप्न के समान ही अंतर्हित हो गई। मेरे मन में इस समय जैसे विचार उठ रहे हैं, जान पड़ता है नगर-तोरण के ध्वंसावशिष्ट पाषाणों के मन में भी ठीक वैसे ही विचार उठे होंगे।

सम्राट् पधार रहे हैं। उत्तरी उपत्यका के क्षितिज पर मेघ के समान अश्वारोहियों की श्रेणी दिखाई दे रही है। एक के बाद दूसरे मेघखंड की भाँति उमड़ता हुआ सैनिकों का पंक्तिबद्ध दल क्रमशः उत्तर दिशा से आने लगा। सूर्य के आलोक से प्रतिबिंबित उज्ज्वल शिरस्त्राण दूर से तारों के समान प्रतीत हो रहे थे, परंतु पास आने पर जान पड़ता था जैसे मध्याह्न का प्रखर सूर्य हो। ये शक अश्वारोही थे; चिपटी नाकवाले मेषचर्मधारी जिन अश्वारोहियों ने नगर का विध्वंस किया था, ये उनकी भाँति नहीं थे। इनके शरीर का वर्ण अपेक्षाकृत उज्ज्वल और अंग-प्रत्यंग सुगठित थे। समस्त अश्वारोहियों के शरीर पर चाँदी के समान शुभ्र वर्म्म थे। उनके एक हाथ में

माला, दूसरे हाथ में लगाम तथा कमर में छोटी-सी तलवार थी। इनके अतिरिक्त किसी के पास और कोई अस्त्र नहीं था। सुना है, सुदूर पश्चिम के रोमक सैनिक भी इसी प्रकार के अस्त्र धारण करते थे। सैनिकों की पंक्ति ने बृहदाकार सर्प की भाँति धीरे धीरे आकर स्तूप को चारो ओर से वेष्टित कर लिया। प्रातःकाल से लेकर दिन के दो प्रहर पर्यंत केवल अश्वारोहियों का दल आता रहा। इनके अस्त्र-शस्त्र अथवा वेशभूषा में किसी प्रकार का पार्थक्य नहीं था। अश्वारोहियों के अनंतर वन्य स्रोत के समान पैदल सेना का आना आरंभ हुआ। नाना देशों के, नाना प्रकार के परिच्छद वाले सैनिक उस सेना में दिखाई पड़े—स्वल्प परिच्छदधारी मगधवासी, उष्णीष-धारी कान्यकुब्जवासी, विविध वर्ण के परिच्छद वाले शूरसेनी, उष्णीष में लौहचक्र धारण करनेवाले जालंधरवासी, दीर्घकाय टक्कवासी मैले-कुचैले वस्त्र वाले गौर वर्ण काश्मीरी और गांधारी तथा थोड़े से चर्मधारी शक सैनिक भी पैदल सेना में थे। दिन का प्रकाश जब तक वर्तमान था तब तक पैदल सेना आती ही रही। सायंकाल होने पर स्तूप के चारो ओर का स्थान सहस्र सहस्र उल्काओं के प्रकाश में दिन की भाँति आलोकित हो उठा। इसके पश्चात् दूर से शकटों की घरघराहट सुनाई पड़ी। क्रमशः दो तथा चार पहियों वाले अश्व-योजित रथ आने लगे। शक साम्राज्य के प्रधान अमात्यगण इन रथों पर आरूढ़ थे। श्वेत वर्ण के सोलह अश्वों से युक्त रथ पर कान्यकुब्ज के महाक्षत्रप वनष्फर का आगमन हुआ। उनके साथ शताधिक रथों पर आरूढ़ उनकी परिजन-मंडली ने आकर काष्ठ-निर्मित

नगरी में प्रवेश किया। चार ऊँटों से युक्त रथ पर मगध-विजेता महाक्षत्रप खरपल्लान पधारे। अश्वारोहिणी स्त्रियों से परिवेष्ठित तक्षशिला के महाक्षत्रप महादंडनायक लल्ल आए। उपस्थित जनसमूह विस्मित-चकित होकर कोमलांगी काश्मीरी और गांधारी ललनाओं का अश्वारोहण-कौशल देख रहा था क्योंकि इसके पूर्व महाकोशल में किसी ने स्त्रियों को घोड़े पर चढ़ते नहीं देखा था। हाथी पर कसे हुए काष्ठ-सिंहासन पर चढ़कर कपिशा के महाक्षत्रप वेष्पशि पधारे। उनके साथ कंचुकियों से घिरी हुई वाह्लीक महिलाओं की मंडली भी महाकाय हाथियों पर आरूढ़ थी। इस प्रकार प्रायः अर्द्धरात्रि पर्यंत साम्राज्य के भिन्न भिन्न प्रांतों के अमात्य और सभासदगण आते रहे। अर्द्धरात्रि के अनंतर ऐसा प्रतीत हुआ मानों दूर पर, पर्वत के पाद-प्रदेश में अग्नि जलाई गई है और वह वेगपूर्वक स्तूप की ओर बढ़ी आ रही है। दो ही दंड में स्तूप के चतुर्दिक् तथा काष्ठ-नगरी में तुमुल कोलाहल होने लगा। सर्वत्र यही ध्वनित होता था कि 'सम्राट् पधार रहे हैं।' दूर से प्रज्ज्वलित अग्नि के समान प्रतीत होनेवाले पुंज निकट आए तो मैंने देखा कि पाषाण-मंडित पथ के पार्श्व में सहस्रों उल्काधारी अश्वारोही वेगपूर्वक स्तूप की ओर दौड़े जा रहे हैं। उनके सैंधव अश्व दीर्घाकार किंतु क्षीणकाय थे, परिच्छद श्वेत-वर्ण तथा दाहिने हाथ में सात सात हाथ लंबी उल्काएँ थीं। दो सहस्र उल्काओं से जो पथ आलोकित हो रहा था उसपर दो अश्वा-रोही द्रुत गति से स्तूप की ओर अग्रसर हो रहे थे। इनमें एक महाराज राजाधिराज देवपुत्र कनिष्क और दूसरे उनके ज्येष्ठ पुत्र महाराज

हुविष्क थे। सम्राट् का डील-डौल लंबा तगड़ा और मुख-मंडल स्मश्रु-मंडित था, उनकी नासिका और दाहिने गंडस्थल पर आघात के लंबे लंबे चिह्न थे, उन्हें देखते ही जान पड़ता था कि इनके जीवन का अधिकांश युद्ध-व्यापार में व्यतीत हुआ है। कटिप्रदेश में ढाई हाथ का चौड़ा खड्ग लटक रहा था। पार्श्व में उनके ज्येष्ठ पुत्र हुविष्क थे। ये दीर्घकाय किंतु कोमल, स्मश्रु-रहित, नवयुवक थे और प्रतीत होता था जैसे आजीवन सुख की कामना के चिह्न उनके मुख पर अंकित हों। अश्वारोहियों के पीछे बीस-पचीस परिचारक द्रुतगामी अश्वों पर चल रहे थे।

सम्राट् के आगमन का समाचार सुनकर उस काष्ठ-नगरी के आबाल-वृद्ध पाषाण-मंडित मार्ग की ओर बढ़ चले। भीड़ में पड़ जाने से वनष्फर का रत्नजटित उष्णीष नीचे गिर पड़ा, दंडनायक लल्ल का शिरस्त्राण जनसमूह के पैरों से पिसकर चूर हो गया। जनसमूह द्वारा निक्षिप्त होकर वेष्पशि की महादेवी स्तूप के दूसरी ओर चली गईं। वे सम्राट् का आगमन भी नहीं देख सकीं। अत्यंत संत्रस्त हो जाने पर खरपल्लान ने अपना खड्ग निकालने की चेष्टा की किंतु उनका हाथ मूठ तक नहीं पहुँच सका। प्रधान अमात्य, सभासद एवं परिचारक, दौवारिक एवं भिक्षु, अश्वारोही एवं पैदल, स्त्री एवं पुरुष उस विशाल जनसमूह में इस प्रकार गड्डमड्ड हो गए कि समस्त पद-मर्यादा जाती रही। सम्राट् के आने पर उनकी सेना के लिये मार्ग अवश्य मुक्त हो गया, किंतु जयजयकार के अतिरिक्त उनकी और किसी प्रकार की अभ्यर्थना नहीं हो सकी। सम्राट् आए और

काष्ठ-नगरी से कुछ दूर हटकर बनाए गए पटमंडप के भीतर चले गए। जन-समूह के वापस जाते जाते पूर्व दिशा की ओर अंधकार दूर होने लगा। उत्सव के दिन प्रातःकाल ऐसा भासित होता था मानों दौवारिकों और प्रहरियों के अतिरिक्त समस्त नगर सो रहा है। प्रातः-काल उत्सव का उपक्रम होने लगा। यह राजकीय उत्सव वन्य नगरी के उत्सव जैसा नहीं था, इसमें उच्छृंखलता अथवा विशृंखलता का लेश भी नहीं दिखाई देता था। धीरे धीरे काष्ठ-नगरी के चारो ओर से आकर भिक्षु-समुदाय स्तूप-वेष्टनी में समवेत हुआ। जीर्णोद्धार के कारण प्राचीन स्तूप बिलकुल नवीन प्रतीत हो रहा था। महास्थविर पार्श्व ने स्तूप के बाहर किसी प्रकार की साज - सज्जा को आवश्यक नहीं समझा था, किंतु राजकर्मचारियों ने वेष्टनी के बाहर एवं परिक्रमण पथ पर यथोचित सजावट कर दी थी। सूर्योदय के थोड़ी देर पश्चात् उत्सव आरंभ हुआ। राजकीय स्कंधावार से लेकर वेष्टनी के पूर्वी तोरण तक का मार्ग बहुमूल्य वस्त्रों से आच्छादित कर दिया गया था। समान अंतर पर गड़े हुए स्वर्णदंडों पर मणि-मुक्ता-जटित बहुमूल्य पट्टावास स्थापित किया गया था। भाँति भाँति के नेत्र-सुखकर कौषेय वस्त्रों से स्वर्ण-दंड आवृत थे। मार्ग पर बिछाए गए आच्छादन दूर देश से अत्यंत उद्योगपूर्वक लाए गए पुष्पों से परिपूर्ण कर दिए गए थे। मार्ग के दोनों पार्श्वों में स्थान स्थान पर सुगंधित जल के कृत्रिम निर्झरों क निर्माण किया गया था। सूर्योदय के थोड़ी देर पश्चात् मार्ग के दोनों ओर सुसज्जित पैदल एवं अश्वारोही सेनाओं की एक एक पंक्ति खड़ी हो गई। इनसे उत्सव की शोभा अवश्य बढ़ती थी, किंतु साथ ही

भीत दर्शकों की गति और दृष्टि में बाधा भी पड़ती थी। थोड़ी देर पश्चात् विभिन्न देशों से समागत भिक्षुवर्ग स्तूप की ओर आने लगा। सैनिकों की चारो पंक्तियों का अतिक्रमण भिक्षुवर्ग ने बड़े कष्ट के साथ पूरा किया, उनके पैर भीत भाव से उठते-गिरते थे; बहुमूल्य पथाच्छादन पर हिचकते-झिझकते किसी प्रकार वे तोरण-द्वार तक पहुँचे। सैनिकों ने भिक्षुओं के प्रति संमान का जो प्रदर्शन किया उसमें उनकी अनिच्छा स्पष्ट लक्षित होती थी। जान पड़ता था काषाय अथवा गैरिक वस्त्रधारी संप्रदाय उनकी कृपा का पात्र है, उसके प्रति विशेष आदर-भाव रखने का कोई प्रयोजन नहीं है। उसी समय मैंने जाना कि आर्यावर्त्त में जो नवीन विप्लव घटित हुआ उसके कारण संघ एवं सद्धर्म के गौरव का कितना ह्रास हुआ है। अपने पशुबल की धनी शक जाति ने सद्धर्म की छाया मात्र का स्पर्श अवश्य किया है, परंतु उसकी वास्तविक मर्यादा को हृदयंगम करने में वह नितांत विफल रही है। भिक्षु-संघ के प्रति सम्राट् द्वारा संमान व्यक्त किए जाने के कारण जन-साधारण भी यत्किंचित् संमान प्रकट कर देता था, उससे अधिक नहीं। सम्राट् जिस प्रकार बौद्ध संघ के प्रति श्रद्धालु थे उसी प्रकार वाविरुष वा ईरानी धर्म के प्रति भी, फलतः सैनिकों के लिये सद्धर्म के प्रति विशेष अनुरक्त होने का कोई कारण नहीं था। किंचित् काल के अनंतर भिन्न भिन्न प्रांतों के महाक्षत्रपों से परिवेष्ठित सम्राट् स्तूप की ओर पधारे। उनके आगे और पीछे परिचारकवर्ग छत्र और व्यजन लेकर चल रहा था, उनके पश्चात् महाराज हुविष्क तथा शक जातीय क्षत्रपगण थे। कनिष्क जब प्रथम तोरण पर पहुँचे तब भिक्षुओं ने,

और जब द्वितीय तोरण पर पहुँचे तब महास्थविरों ने उनकी अभ्यर्थना की। महास्थविर पार्श्व के साथ स्तूप की अर्चना और प्रदक्षिणा करने के लिये संघस्थविरों ने सम्राट् से अनुरोध किया। कंचनवर्ण हुविष्क को साथ लेकर सम्राट् ने भिक्षुसंघ का अनुगमन करते हुए स्तूप की प्रदक्षिणा की एवं अर्चना के निमित्त वे पूर्वी तोरण पर रुक गए। लौटती बेर उनके कटिप्रदेश से लटकती हुई तलवार ने स्तूप के किसी अर्द्धगोलाकार भाग से टकराकर गंभीर घोष किया। इस घोष को सुनकर सम्राट् विचार में पड़ गए अन्यमनस्क भाव से उन्होंने अर्चना पूरी की, तदुपरांत म्यान में रखी तलवार को कमर से निकालकर धीरे धीरे वे स्तूप के प्रस्तरों पर आघात करने लगे। प्रधान अमात्यगण उनकी यह क्रिया विस्मयपूर्वक देखने लगे। थोड़ी देर इसी प्रकार आघात करते करते एक स्थान से ऐसा शब्द निकला मानों धातु की बनी दो वस्तुएँ परस्पर टकरा रही हों। सम्राट् कनिष्क एवं महास्थविर पार्श्व चौकन्ने हो गए। सम्राट् के आदेश से कपिशा-वासी लंबे-तगड़े चार सैनिकों ने कंधों से ठेल-ठेलकर बृहदाकार शिलापट्ट को स्तूप के पार्श्व में सरका दिया। लगभग दो सौ वर्षों के अनंतर गर्भगृह का द्वार पुनः खुला। समवेत जन-समूह ने समुद्र गर्जन की भाँति जयजयकार किया। चारो ओर इसी की चर्चा होने लगी कि यक्षों की भविष्यवाणी सत्य हुई, सम्राट् आए और उनके स्पर्श मात्र से गर्भगृह का छिपा हुआ द्वार प्रकट हो गया। भस्माधार को देखने के लिये महास्थविर पार्श्व गर्भगृह के भीतर प्रवेश कर रहे थे किंतु सम्राट् के मना करने पर जहाँ के तहाँ रुक गए। गर्भगृह के द्वार के

समक्ष अग्नि जलाई गई तथा जलती हुई लकड़ियाँ गर्भगृह के भीतर डाली गईं। तदनंतर कवचधारी कतिपय सैनिक जलती हुई लकड़ियाँ लिए गर्भगृह के भीतर प्रविष्ट हुए और उसे भली भाँति देखकर लौट आए। फिर महास्थविरों के पीछे पीछे सम्राट् एवं हुविष्क ने भीतर जाकर प्रस्तर-निर्मित आधार की अर्चना की। स्थविरों ने काँपते हाथों उस भारी प्रस्तर-आधार को ऊपर उठाया। तत्पश्चात् स्वर्णपात्र और उसमें से स्फटिकाधार निकाला गया। तत्क्षण ऐसा प्रतीत हुआ मानों किसी अदृष्ट शक्ति ने उस युद्धप्रिय रक्तपिपासु सम्राट् के दोनों घुटने झुका दिए। स्फटिकाधार उन्मुक्त होते ही क्रूराकृति निष्ठुर शक सम्राट् भूमि पर साष्टांग नमित हो गए। पता नहीं शाक्य-पुत्र का कैसा प्रताप था, कैसी मोहिनी शक्ति थी, जिसके कारण उस निर्मम, कठोर नरहंता का हृदय भी विगलित हो गया। सम्राट् के साथ साथ गर्भगृह में उपस्थित समस्त जन-समूह भस्माधार के संमुख नतमस्तक हो गया। क्रमशः गर्भगृह के बाहर खड़ी जनता ने एवं तत्पश्चात् वेष्टनी के बाहर वाली जनता ने इसका अनुकरण किया। महास्थविर पार्श्व का मुखमंडल आनंद और गर्व से दीप्त हो उठा। वे तब तक महाराज धनभूति प्रदत्त स्फटिकाधार को हाथ में लिए खड़े थे। उस समय मुझे स्मरण हुआ कि भस्मावशेष की स्थापना के समय वयोवृद्ध महास्थविर ने क्या कहा था। शकों का प्रवाह आया, कपिशा से लेकर कामरूप तक के भूभाग का अधिकांश शक जाति ने हस्तगत कर लिया, प्राचीन आर्य सभ्यता उस प्रवाह में प्रायः संपूर्ण रूप से बह गई, किंतु जो किंचिन्मात्र अंश शेष रहा उसी से आर्यावर्त्त

का पुनरुद्धार संभव हुआ। प्राचीन भारतीय सभ्यता के संपर्क में आकर मरुवासी बर्बर शक जाति में निश्चित रूप से बहुत बड़ा परिवर्तन घटित हुआ। शक जाति का शकत्व प्रायः लुप्त हो गया। यही कारण है कि विशाल शक साम्राज्य के अधीश्वर अंगुलि बराबर स्फटिकाधार के भीतर रक्षित भस्मावशेष के समक्ष नतमस्तक हो गए। वयोवृद्ध महास्थविर की भविष्यवाणी सफल हुई, शक जाति त्रिरत्न के आश्रय में आ गई, सद्धर्म की उन्नति के दिन आ चले और उसकी नवीन प्रतिष्ठा के समक्ष लोग मौर्यकालीन अतीत गौरव को भी भूलने लगे। भस्मावशेष को हाथ में लिए हुए महास्थविर पार्श्व और उनके पीछे पीछे अन्य समस्त लोग गर्भगृह के बाहर आए। साम्राज्य के प्रधान अमात्यों तथा उनके साथ की स्त्रियों ने भस्मावशिष्ट अस्थियों का स्पर्श करके तृप्ति-लाभ किया। सम्राट् का आदेश होने पर स्फटिक, स्वर्ण एवं प्रस्तर के आधार यथास्थान पुनः स्थापित कर दिए गए। गर्भगृह का द्वार शब्द करता हुआ बंद हो गया। जिन्होंने द्वार बंद किया उन्हें क्या पता था कि अब भगवान् तथागत का भस्मावशेष चिरकाल के लिये मानव दृष्टि से परे हो रहा है। सम्राट् की यह यात्रा अत्यंत सफल सिद्ध हुई। इसके उपलक्ष्य में गर्भगृह के द्वार के सामने गांधार देश से मँगाई गई नवोत्कृष्ट यवन शिल्प की अभिनव कलाकृति कृष्णवर्ण प्रस्तर की एक अत्यंत सुंदर बुद्ध-प्रतिमा स्थापित की गई। वह जैसे इसलिये वहाँ स्थापित की गई थी कि गर्भगृह के द्वार का स्पर्श कोई और न करने पाए। इसके पहले मैंने प्रतिमा नहीं देखी थी। हम लोगों के शरीर पर चित्र तो अवश्य बनाए गए थे

किंतु मूर्तियाँ नहीं थीं। सद्धर्म के अंतर्गत मूर्तिपूजा का यहीं से आरंभ होता है। इस समय तक दो चरण-चिह्नों के चित्र द्वारा भगवान की उपस्थिति व्यक्त की जाती थी। सम्राट् के आदेशानुसार स्थापित वह मूर्ति सचमुच बड़ी सुंदर थी। उस समय मन में यही होता था कि इससे अधिक सुंदर न कुछ है, न हो सकता है; किंतु आनेवाले काल में मूर्तिकला की बहुत अधिक उन्नति हुई। यवन शिल्पियों से मूर्त्तिकारी की शिक्षा पाए हुए भारतीय शिल्पियों ने उनकी अपेक्षा भी अधिक दक्षता अर्जित की। इन कलावंतों द्वारा निर्मित मूर्तियों को देखकर ही जाना जा सकता था कि गांधार की मूर्तियाँ यवनों की तथा मध्यदेश की मूर्तियाँ आर्यावर्त्तवासियों की कलाकृतियाँ हैं। संध्या होने पर उल्कावाही अश्वारोहियों के साथ सम्राट् ने युद्धयात्रा आरंभ की। काष्ठ-निर्मित शिविर देखते देखते उजड़ गया। ईंधन के लिये लकड़ी चुननेवाले वनवासी जंगल की लकड़ी पुनः जंगल में उठा ले गए। हमारे पूर्व सहचर भिक्षुओं ने बहुत सावधानी से आकर उस छोटे से संघाराम में पुनः आसन जमाया। कनिष्क की विशाल वाहिनी ने समुद्र-तरंग की भाँति चीन देश पर आक्रमण किया, किंतु अडिग चट्टान से टकराने वाली तरंगों की भाँति प्रत्यावर्तित होकर वह पराजित सेना काश्मीर की ओर चली गई। कुरुवर्ष पर चीन की सेना ने अधिकार कर लिया तथा कपिशा पर पारदों ने। बीस वर्षों के अथक परिश्रम के उपरांत वृद्ध सम्राट् ससैन्य मरु प्रदेश में वापस लौटे। उस समय चीन सेना के अधिनायक पांचा का भी शरीरांत हो चुका था। कनिष्क की नरमेध-परायणता सफल अवश्य हुई किंतु वे फिर

आर्यावर्त्त की ओर नहीं लौटे। वाह्लीक में उनकी समाधि को बहुत दिनों तक हूण लोग पूजते थे। उस छोटे से भिक्षु-समुदाय में होने वाली पारस्परिक चर्चा से मुझे जो कुछ ज्ञात हुआ वही मैंने सुनाया है।

८

कनिष्क के चले जाने पर कुछ दिनों तक विभिन्न देशों के यात्री तथागत के भस्मावशेषधारी स्तूप के दर्शनों के निमित्त हमारे पास आते रहे। सुना है, कनिष्क के द्वितीय पुत्र हुविष्क के राज्यकाल में सद्धर्म की विशेष उन्नति हुई तथा ब्राह्मण धर्म आर्यावर्त्त से प्रायः लुप्त हो गया। स्तूप-वेष्टनी के चारो ओर धनवान तीर्थयात्रियों के द्वारा बहुत से छोटे छोटे मंदिर इसी समय बनवाए गए। प्राचीन स्तूप के बाहर तुम लोगों को मूर्तियों के जो टुकड़े आज भी दिखलाई देते हैं वे इन्हीं मंदिरों में स्थापित की गई थीं। हुविष्क की मृत्यु के उपरांत सद्धर्म की पुनः अवनति आरंभ हुई क्योंकि नवीन सम्राट् वासुदेव ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। उनका राज्याभिषेक होते ही आर्यावर्त्त के समस्त विहारों और संघारामों में विलास का बोलबाला हो गया। कहीं वृत्ति के अभाव के कारण तो कहीं ब्राह्मणों के दुर्व्यवहार और राजशक्ति के अभाव के कारण संघाराम भिक्षुओं से शून्य हो गए। वासुदेव के अनंतर कुषाण वंश के जो राजे सिंहासन पर बैठे वे सब नाम मात्र के सम्राट् थे।

पंचनद के अतिरिक्त और किसी देश में उनका आधिपत्य नहीं जमा। धीरे धीरे विशाल कुषाण साम्राज्य छोटे - छोटे राज्य-खंडों में विभक्त हो गया। कुषाण वंश के वास्तविक वंशधरों के हाथ में पंचनद के अतिरिक्त अन्य किसी देश का अधिकार नहीं रह गया। ब्राह्मण धर्म धीरे धीरे शक्तिशाली होता जा रहा था और पृष्ठपोषण के अभाव में सद्धर्म की शक्ति क्षीण होती जा रही थी। क्रमशः स्तूप से संबद्ध संघाराम में स्थविरों के देहावसान पर उनकी स्थान-पूर्ति करनेवाले अपर स्थविरों का मिलना कठिन हो गया और संघाराम में रहनेवाले भिक्षुओं की संख्या घटती गई। जो थोड़े से भिक्षु बच गए थे उन्हीं के मुख से सुना करता था कि पाटलीपुत्र में नवीन साम्राज्य का बीजवपन हो गया है किंतु खेद का विषय है कि नवीन राजवंश सद्धर्म का प्रत्यक्ष विरोधी न होते हुए भी उसके प्रति विशेष श्रद्धालु नहीं है।

चंद्रगुप्त प्रथम के साथ लिच्छवि कन्या कुमारदेवी का विवाह-संबंध संपन्न होते ही नवीन राज्य का विस्तार बढ़ने लगा। छोटे छोटे शक राज्य एक एक करके उस नवप्रतिष्ठित साम्राज्य में अंतर्भुक्त हो गए। आर्यावर्त्त में पश्चिमी समुद्र तट पर अवस्थित केवल सौराष्ट्र ही ऐसा एकमात्र स्थान रह गया था जहाँ सद्धर्म की प्रतिष्ठा थी। धीरे धीरे तीर्थयात्रियों की संख्या भी घटने लगी। लिच्छवि-दौहित्र समुद्रगुप्त समुद्र पर्यंत पृथ्वी को विजय करके जिस समय पाटलीपुत्र में अश्वमेध यज्ञ का उपक्रम कर रहे थे उस समय आर्यावर्त्त में सद्धर्म की दशा बड़ी शोचनीय हो चुकी थी। जो थोड़े से भिक्षु भिक्षावृत्ति द्वारा जीवन-यापन करते हुए उस संघाराम में निवास करते थे उन्हें अंत में मुट्ठी भर अन्न

मिलना भी कठिन हो गया। समुद्रगुप्त के उपरांत सिंहासन पर बैठते ही चंद्रगुप्त ने आनर्त्त और सौराष्ट्र से भी शकों का आधिपत्य समाप्त कर दिया और इस प्रकार भारतवर्ष से शक साम्राज्य का अवशिष्ट चिह्न भी लुप्त हो गया। कामरूप से लेकर सिंधुतट तक के समस्त प्रदेश उनके अधीन हो गए। दक्षिण में नीलगिरि तक के दाक्षिणात्य राजाओं ने उनका चक्रवर्त्तित्व शिरोधार्य किया। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् उत्तरापथ में इतना विशाल साम्राज्य कभी नहीं स्थापित हुआ था, पर इन गुप्त सम्राटों के शासनकाल में तथागत के धर्म की दशा दिनानुदिन गिरती गई।

बहुत दिनों तक भारतवर्ष में कोई विदेशी शत्रु नहीं आने पाया। सुदूर अतीत में हुआ शकों का आक्रमण लोग भूल गए। जो शक यहाँ रह गए थे वे यहाँ के आचार-व्यवहार, धर्म और भाषा को अंगीकार कर आर्य जातियों में घुल-मिल गए। कोई नहीं सोचता था कि प्रबल पराक्रमशाली गुप्त सम्राटों के आधिपत्य में भारतवर्ष पर किसी विदेशी जाति का आक्रमण भी हो सकता है। हिमाच्छादित उत्तरवर्ती मरुदेश से बर्बर जाति के घोड़ों के शब्द सुनाई पड़ने लगे। सहस्रों और लक्षों की संख्या में हूण अश्वारोहियों ने मरुभूमि से आकर वाह्लीक और कपिशा पर आक्रमण कर दिया। प्रबल झंझावात के समक्ष मुट्ठी भर धूल के समान गांधार का कुषाण राज्य उड़ गया—गांधार एवं उद्यान के सामंत राजाओं ने हूणों का प्रतिरोध करने की चेष्टा तक नहीं की! इसी समय पाटलीपुत्र में चंद्रगुप्त का देहांत हो गया और इस विशाल साम्राज्य का शासन-भार प्रौढ़ कुमारगुप्त के कंधों पर आ पड़ा। इधर

जिस समय मगध में अभिषेक कृत्य संपन्न हो रहा था, उस समय हूण लोग धीरे धीरे पंचनद, काश्मीर, दरद और खसदेश को श्मशान बनाते जा रहे थे। हूणों का नाम तो तुम लोग थोड़े दिनों से सुन रहे हो परंतु कुमारगुप्त के राज्यकाल में उनका नाम लेते ही गर्भवती स्त्रियों को गर्भपात हो जाता था। स्कंदगुप्त के राज्यकाल में उनका नाम सुनकर बड़े बड़े देशविख्यात वीर अस्त्र-शस्त्र फेंक सिर पर पैर रखकर भाग खड़े होते थे। मोटे-तगड़े, विकटाकार, दाढ़ी-मूँछ रहित, उल्लू के समान आँखों वाले, पशुचर्मधारी हूणों को देखने मात्र से भयंकर आतंक उत्पन्न होता था। सुना है, हूणों को देखकर प्राचीन रोमक साम्राज्य के किसी विख्यात धर्माध्यक्ष ने कहा था कि ये तातारी नहीं नारकीय जीव हैं।

हूणों ने जिस समय गुप्त साम्राज्य के पश्चिमी प्रांतों पर आक्रमण किया उस समय कुमारगुप्त पाटलीपुत्र के राजप्रासाद में सुषुप्ति का आनंद ले रहे थे तथा कुमार स्कंदगुप्त मथुरा का शासन संचालन कर रहे थे। स्कंदगुप्त ने सिंधुतट के पास यथासाध्य हूणों का प्रतिरोध करने की चेष्टा की थी एवं चंद्रगुप्त की सुशिक्षित सेना ने भी यथाशक्ति प्रयत्न किया था। ईरावती, वितस्ता तथा शतद्रु के तटों पर उत्तरापथ के सहस्रों सैनिकों ने स्वदेश की रक्षा में अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी किंतु प्रचंड वायुवेग से प्रवहमान पारावार-तरङ्गों की भाँति हूणों की अश्वारोही सेना समुद्रगुप्त के सैनिकों को बहा ले गई। शतद्रु के इस पार आकर कुमार स्कंद को थोड़ा विश्राम करने का अवसर मिला। वितस्ता-तट से जो दूत सहायता के लिये अनुरोध करने मगध भेजा गया था उसने लौटकर शतद्रु तट के स्कंधावार में

कुमार को बड़ा विषम संवाद दिया—वृद्ध कुमारगुप्त तरुणी के रूपजाल में बुरी तरह फँसे हुए हैं, पचास वर्षीय वृद्ध महाराज चतुर्दश वर्षीया बालिका का पाणिग्रहण करके उन्मत्त हो उठे हैं तथा स्कंद की माता ने क्रोध और क्षोभ के कारण फाँसी लगाकर आत्मघात कर लिया है। यह भयंकर समाचार सुनकर स्कंदगुप्त स्तब्ध हो गए। विषम संग्राम में उनकी शक्ति बहुत अधिक क्षीण हो चुकी थी। उन्हें आशा थी कि मगध से बहुत बड़ी सेना आएगी, किंतु दूत ने आकर बताया कि सम्राट् अभी नवीन महारानी के प्रासाद में हैं और एक मास से ऊपर हो गए किसी को भी उनके दर्शन नहीं हो सके। हताश होकर स्कंदगुप्त मथुरा लौट गए। वहाँ उनके पितृव्य महाराजपुत्र गोविंदगुप्त के यहाँ से आए हुए दूत ने उन्हें सूचना दी कि गोविंदगुप्त स्वयं सेना का संघटन कर रहे हैं; उन्होंने सम्राट् के आदेश की प्रतीक्षा नहीं की क्योंकि तब तक भी किसी को उनके दर्शनों का अवसर नहीं प्राप्त हुआ। संतोष की बात यह हुई कि हूणों की सेना शतद्रु तट से उत्तर की ओर चली गई थी। फलतः स्कंदगुप्त मथुरा आकर नगर की सुरक्षा का उपाय करने लगे। गोविंदगुप्त अपनी अल्पसंख्यक सेना-सहित मथुरा आकर स्कंद से मिले। चाचा भतीजा एकत्र होकर हूणों की प्रतीक्षा करने लगे।

नवपरिणीता बालिका महिषी को लेकर कुमारगुप्त पाटलीपुत्र से महोदय चले आए। पाटलीपुत्र के प्रासाद में रहनेवालों की बोली-ठिठोली उनकी महिषी के लिये असह्य हो गई थी। कान्यकुब्ज के गंगातटवर्ती प्राचीन प्रासाद में आकर वृद्ध सम्राट् को शांति मिली।

हूण लोग धीरे धीरे मथुरा की ओर अग्रसर हो रहे थे। स्कंदगुप्त और गोविंदगुप्त की सहायता के लिये और किसी ने प्रयत्न नहीं किया। शकों की बाढ़ की भाँति हूणों की बाढ़ भी आई और प्राचीन शूरसेन राज्य को बहा ले गई। नाना प्रकार के प्राचीन कारु-कार्यों से शोभित रक्तवर्ण प्रस्तर-निर्मित मथुरा का नगर-प्राकार हूणों का आक्रमण रोकने में समर्थ नहीं हुआ। गोविंदगुप्त और स्कंदगुप्त ने नौका से यमुना पार जाकर अपने प्राणों की रक्षा की। भिखारियों की भाँति चिथड़े लपेटे कुमार और महाराजपुत्र कान्यकुब्ज नगरी के तोरण-द्वार पर उपस्थित हुए। दौवारिकों ने उन्हें न तो पहचाना और न किसी प्रकार का संमान ही प्रदर्शित किया। नंगे पैर उन लोगों ने लंबा राजमार्ग पार किया और गंगा तट पर बने राजप्रासाद तक पहुँचे। सामान्य भिक्षुक समझकर प्रतिहारी उन्हें झिड़क रहे थे कि क्रुद्ध होकर गोविंदगुप्त ने तलवार निकाल ली। समुद्रगुप्त की मुद्रांकित तलवार देखते ही प्रतिहारीगण नतमस्तक हो गए। उन्होंने शिप्रा और भागीरथी के तट पर गोविंदगुप्त के फुर्तीले हाथों से उसे संचालित होते देखा था। नंगी तलवारें हाथ में लिए, निषेध करते हुए कंचुकियों से घिरे, दोनों व्यक्ति मेघमुक्त सूर्य के समान सम्राट् के शयनकक्ष में प्रविष्ट हुए। उन्होंने देखा कि वृद्ध महाराज नवीन महिषी के लिये माला गूँथने में जुटे हुए हैं। पुत्र और छोटे भाई को देखकर सम्राट् बड़े लज्जित हुए, किंतु उन्हें देखते ही गोविंदगुप्त का धैर्य जाता रहा। ज्येष्ठ भ्राता को संबोधित करके वे पहले की बातें सुनाने लगे। परंतु कामांध सम्राट् को बोध नहीं हुआ। उन्होंने अपना अपराध स्वीकार

करते हुए कुमार तथा गोविंदगुप्त को राज्यभार अर्पित करना चाहा किंतु तरुणी राजमहिषी का भ्रूभंग देखकर वैसा भी नहीं कर सके। बहुत अनुनय-विनय के उपरांत स्कंदगुप्त एवं गोविंदगुप्त वृद्ध सम्राट् एवं उनकी राजमहिषी को मंत्रणागृह तक लिवा लाने में समर्थ हुए। राजमहिषी की आज्ञा के अनुसार सम्राट् के साले हूणयुद्ध के लिये सेनापति नियुक्त किए गए। इसके थोड़े दिनों बाद ही एक दिन रात्रिवेला में थोड़े से हूण अश्वारोहियों ने नगर पर आक्रमण किया। हूणों का नाम सुनते ही वृद्ध सम्राट् ने अपनी राजमहिषी और नवजात शिशु के साथ हाथी पर आरूढ़ होकर नगर का परित्याग कर दिया। मुट्ठी भर हूण अश्वारोही रात्रिवेला में प्राचीन महोदय नगरी को लूट ले जाए एवं भयभीत नागरिक आत्मरक्षा भी नहीं कर सके।

शरद ऋतु में एक दिन प्रातःकाल संघाराम के भिक्षु परिक्रमण कर रहे थे कि कनिष्क द्वारा निर्मित प्रस्तर-मार्ग पर रथ के बहुत से पहियों का शब्द सुनाई पड़ा। द्रव्याकांक्षी भिक्षुओं ने समझा कि कोई धनवान श्रेष्ठि तीर्थयात्रा के लिये आ रहे हैं, किंतु आगत लोगों को देखते ही उनकी द्रव्य-लालसा जाती रही। उन्होंने भीत भाव से देखा कि असंख्य राजपुरुषों के साथ चार सैंधव अश्वों वाले रथ पर आर्यावर्त्त के अधीश्वर कुमारगुप्त राजमहिषी और पुत्र को लेकर धीरे धीरे स्तूप की ओर आ रहे हैं। सैनिकों ने तत्काल भिक्षुओं को स्तूप के पास से दूर हटा दिया और सम्राट् ने प्रस्तर-निर्मित प्राचीन संघाराम में आश्रय ग्रहण किया। चारों ओर बहुत से वस्त्रावास खड़े हो गए। उस समय साम्राज्य की दशा बहुत बदल गई थी। हूणों ने प्रायः समस्त

आर्यावर्त्त पर आधिपत्य जमा लिया था। पूर्व दिशा की ओर पाटली-पुत्र में गोविंदगुप्त ने तथा दक्षिण की ओर सौराष्ट्र में स्कंदगुप्त ने बड़ी कठिनाई से साम्राज्य की मर्यादा स्थिर कर रखी थी। राजमहिषी के अनुरोध के अनुसार वृद्ध सम्राट् ने युद्ध - विग्रह आदि से दूर रहने के लिये विंध्याटवी में आश्रय ग्रहण किया था।

एक दिन वनमार्ग से होकर अश्वारूढ़ गोविंदगुप्त और स्कंदगुप्त आए। उन्होंने आते ही देखा कि वृद्ध सम्राट् कठोर पाषाण पर बैठे हुए राजमहिषी के केशपाश की सेवा कर रहे हैं और स्तूप - वेष्टनी के बीच खड़ा त्रयोदशवर्षीय बालक पुरगुप्त प्राचीन जातक - कथा के चित्रों पर शर-संधान कर रहा है। दक्षिण दिशा वाले तोरण के नीचे खड़े खड़े अपने अग्रज को संबोधित करके गोविंदगुप्त कहने लगे—'महाराज, महादेवी ध्रुवस्वामिनी ने आपका लालन-पालन करके बड़ी भूल की। जिस दूध को पीकर मेरा यह शरीर पला है उसी दूध से आपका शरीर भी पुष्ट हुआ है; इसे स्मरण कर आपको क्या लज्जा नहीं आती? जिनके बाहुबल के कारण एक दिन वाह्लीक से लेकर वंग पर्यंत समस्त आर्यावर्त्त महाराजाधिराज चंद्रगुप्त के चरणों में नतमस्तक हुआ था उन्हीं की भुजाएँ आज एक रमणी के गीले कुंतल सुखाने में उलझी हुई हैं! मेरे भाग्य में यह भी देखना बदा था? जिनके बाहुबल से शक-जाति ने सौराष्ट्र का परित्याग कर सर्वदा के लिये मरु-प्रदेश में आश्रय लिया था, उन्होंने कौन सा ऐसा पाप किया है कि भगवान् उनसे इस वृद्धावस्था में रमणी की परिचर्या करा रहे हैं। उठिए महाराज, अब इस पाषाण-शैया का परित्याग कीजिए। चलिए, दोनों भाई मिलकर

पितामह की दी हुई इस दिग्विजयी तलवार के द्वारा विजातीय हूणों को सिंधु के उस पार खदेड़ भगाएँ। महाराज, पाटलीपुत्र, कान्यकुब्ज, मथुरा, अवंती और सुंदर जालंधर का परित्याग कर आप क्यों इस विंध्य पर्वत की शरण में आए हुए हैं! शैशव की क्रीड़ाभूमि पाटलीपुत्र, कान्यकुब्ज, मथुरा, अवंती और सुंदर जालंधर नगरी को छोड़कर चले आने में आपने क्या कष्ट का अनुभव नहीं किया? उठिए, शस्त्र सँभालिए; रमणी की रूपराशि से मुग्ध होकर जड़ की भाँति बहुत दिनों तक पड़े रह चुके, अब उस जड़ता को उतार फेंकने का समय आ गया है!'

वृद्ध सम्राट् निर्वाक् निस्पंद होकर राजमहिषी के कृष्णवर्ण कुंतल-गुच्छों के पास बैठे रहे। राजमहिषी महाराजपुत्र की ओर टेढ़ी दृष्टि से देखती हुई जोरों से हँस पड़ीं। क्रोध के कारण गोविंदगुप्त का मुखमंडल तमतमा उठा और स्कंदगुप्त की दोनों आँखें डबडबा आईं। धीरे धीरे दोनों व्यक्ति स्तूप-वेष्टनी के बाहर चले गए।

वेष्टनी के बाहर श्वेत वस्त्रधारी कतिपय वृद्ध व्यक्ति खड़े थे। गोविंदगुप्त और स्कंदगुप्त को बाहर आते देख उनमें से एक सज्जन आगे बढ़े, वे थे विशाल गुप्त साम्राज्य के एकमात्र मंत्री युवराज भट्टारक-पादीय कुमारामात्याधिकरण दामोदर शर्मा। दोनों के शुष्क मुख एवं रक्तवर्ण चक्षुओं को देखकर ही बहुदर्शी मंत्री उनके प्रयत्न के फल से अवगत हो गए। पितृव्य अथवा भ्रातुष्पुत्र कुछ कहें, इसके पहले ही वे इन लोगों को सांत्वना देने लगे। उन्होंने कहा कि अधःपतन होने के पूर्व इसी प्रकार की घटनाएँ घटित होती हैं, इनका निवारण करना मनुष्य की शक्ति के लिये साध्य नहीं है। फिर भी मैं स्वयं महाराज की

सेवा में जाकर युद्धक्षेत्र में किन्हीं राजवंशी व्यक्ति के उपस्थित रहने की आवश्यकता सूचित करूँगा। प्रधान सेनापति महाबलाधिकृत अग्निगुप्त तथा प्रधान विचारपति महादंडनायक रामगुप्त ने मंत्री की बातों का समर्थन किया। कुमारगुप्त इस समय भी वैसे ही बैठे हुए थे और राजमहिषी सो गई थीं। बालक पुरगुप्त आलंबन के ऊपर चढ़ने का प्रयत्न कर रहा था। वृद्ध मंत्री एवं वृद्ध सम्राट् एक दंड से ऊपर वार्तालाप करते रहे। बहुत कह-सुनकर राजनीति-कुशल दामोदर शर्मा ने वृद्ध सम्राट् को इस बात पर सहमत किया कि कुमार स्कंदगुप्त उनका प्रतिनिधित्व करें, किंतु सपत्नी-पुत्र का नाम कान में पड़ते ही महारानी की निद्रा टूट गई। वयोवृद्ध सम्राट् भयभीत होकर बोल उठे कि गंभीर राजकार्यों में महादेवी का परामर्श आवश्यक है। वृद्ध ब्राह्मण क्रोध से काँपने लगे। महादेवी का आदेश हुआ कि त्रयोदशवर्षीय कुमार पुरगुप्त हूणयुद्ध में सम्राट् कुमारगुप्त के प्रतिनिधि स्वरूप महाबलाधिकृत के साथ रहेंगे। दामोदर शर्मा अपेक्षाकृत और भयंकर विपत्ति की आशंका करते करते वेष्टनी से बाहर निकले। शुष्क कंठ से युवराजपाद दामोदर शर्मा ने जिस समय सबके समक्ष महादेवी की आज्ञा सुनाई उसी समय लोगों ने जान लिया कि समुद्रगुप्त के साम्राज्य का अंत अब संनिकट है। विषण्ण वदन लिए सब लोग स्तूप के पास से लौट गए। एक प्रहर के भीतर ही गोविंद-गुप्त अश्व पर आरूढ़ हुए और पाटलीपुत्र की ओर प्रस्थान किया। प्रातः-काल सब लोगों ने साश्चर्य सुना कि रात्रिवेला में स्कंधावार का परित्याग कर स्कंदगुप्त किसी अज्ञात स्थान को चले गए। उसी समय से दूरदर्शी सेनानियों पर भावी विपत्ति की गंभीर आशंका व्याप्त होने लगी।

६

दो बैलों वाले रथ पर चढ़े सम्राट् स्तूप का परित्याग कर पाटली-पुत्र की ओर चले जा रहे हैं। स्कंधावार उठ गया है। थोड़े से अश्वारोही धीरे धीरे शकट के पीछे पीछे चल रहे थे। राजमहिषी जीर्ण-शीर्ण वस्त्र के समान वृद्ध पति का परित्याग कर राजदंड को अपने अधिकार में लेने के उद्देश्य से पाटलीपुत्र गई थीं। कनिष्क-निर्मित पाषाण-मार्ग पर उठती हुई घरघराहट से वन-प्रदेश को प्रतिध्वनित करता हुआ सम्राट् का रथ धीरे धीरे चला जा रहा था। उस समय साम्राज्य के केंद्रस्थल पाटलीपुत्र में महोत्सव का आयोजन किया जा रहा था तथा कान्यकुब्ज, प्रतिष्ठान एवं सुदूर महासमुद्र के तट पर स्थित आनर्त्त में असहाय नर-नारियों के आर्त्तनाद से आकाश फट रहा था। एक सौ वर्ष बाद भी इस वृत्तांत को सुनकर माँ की गोद में क्रीड़ामग्न बालक स्तब्ध हो जाया करते थे। हूणों का यह आक्रमण त्रिवेणी से लेकर सुदूर पश्चिम में रोमक नगरी के तोरण-द्वार तक व्याप्त था। हूणराज तोरमाण जिस समय कान्यकुब्ज

का विध्वंस कर रहा था उसी समय प्राचीन पश्चिमी सभ्यता पर भी घातक विपत्ति के मेघ मँडरा रहे थे। टिड्डियों के आने पर जैसे हरी भरी पृथ्वी पर कहीं घास तक दिखाई नहीं देती उसी प्रकार जिस मार्ग से होकर हूणों की सेना निकल जाती थी उस पर से जीव-जंतुओं का चिह्न तक लुप्त हो जाया करता था। बहुत ऊँचाई पर जाकर देखने से दीर्घाकार काले साँप सरीखे गावों और नगरों के जले हुए अवशेष बता देते थे कि इधर से होकर हूणों की सेना गई है। भारी सिर और चिपटी नाक वाले, मैले-कुचैले, श्वेतांग, ठिगने हूण अश्वारोहियों को देखने मात्र से उत्तरापथ के निवासी घर द्वार छोड़कर जंगलों में भाग जाते थे किंतु हूण लोग जंगलों को चारों ओर से घेर कर उनमें आग लगा देते तथा निकल भागने की चेष्टा करने वालों को बर्छे अथवा तीरों से मार गिराते थे। नगरों पर आक्रमण करते समय उनका अदम्य प्रवाह दुर्ग-प्राकार अथवा दुर्ग-प्राचीर का उल्लंघन करके असहाय नागरिकों पर फट पड़ता था, एक ही साथ नगर के भिन्न भिन्न स्थानों पर आग लगा दी जाती थी, जीवित शिशुओं को तेल में भिगोए कपड़ों में लपेटकर, रात्रिवेला में प्रज्ज्वलित करके उल्काओं का काम लिया जाता था, माताओं के समक्ष शिशुओं को अधर में उछालकर तलवार की धार पर टेका जाता था और अभागे बच्चों की देह दो टुकड़े होकर धूल में तड़पने लगती थी। वृद्ध सम्राट् अस्वस्थ थे। गोविंदगुप्त बड़ी कठिनाई से मगध के सीमांत की रक्षा कर रहे थे। साम्राज्य के अन्यान्य प्रदेशों की रक्षा असंभव हो गई थी। ऐसे समय में पुरगुप्त के नाम पर तरुणी

महादेवी ने साम्राज्य का शासन-भार स्वयं ग्रहण किया। वृद्ध मंत्री दामोदर शर्मा की समस्त आशाओं पर पानी फिर गया।

स्तूप के आस-पास से सम्राट् का शिविर उठ जाने पर धीरे धीरे दो-एक भिक्षु आकर संघाराम में रहने लगे। ये समस्त भिक्षु बिलकुल निरक्षर थे। उनकी भक्ति बुद्ध की अपेक्षा अपने पेट के प्रति अधिक थी और निर्वाण-लाभ की अपेक्षा तरुणी-लाभ के लिये वे अधिक लालायित रहते थे। द्रव्य के लिये तो वे निरीह तीर्थयात्रियों तक को बड़ा कष्ट पहुँचाने लगे थे। धीरे धीरे इनके भय से तीर्थयात्रियों ने स्तूप तक जाना छोड़ दिया। वेष्टनी का परिक्रमण-पथ तथा प्राचीन गर्भगृह का द्वार झाड़-झंखाड़ से भर गए। एक दिन रात्रिवेला में दूर से घोड़ों का शब्द सुनाई पड़ा। घोड़े जब पास आए तब दिखाई पड़ा कि हूणों की सेना दक्षिण-पश्चिम के कोने से साम्राज्य के सैनिकों को खदेड़ती हुई स्तूप के समक्ष ला रही है। दूसरे दिन प्रातःकाल सम्राट् के सैनिकों ने भिक्षुओं को संघाराम से निकालकर वेष्टनी को अपने अधिकार में कर लिया। समझ गया कि इस पुण्यक्षेत्र में भी रक्त की नदी बहनेवाली है। सूर्योदय के पहले से ही हूण लोग दूर से लगातार बाणों की वर्षा करने लगे। पैने फल वाले बाणों के टकराने के कारण हमारी वेष्टनी स्थान स्थान पर क्षत-विक्षत हो गई। अत्यंत परिश्रमपूर्वक तैयार की गई कला-कृतियों का विनाश-काल संनिकट होने पर भी न तो हूणों ने और न आर्यों की सेना ने उधर ध्यान दिया। एक प्रहर दिन चढ़ जाने पर अश्वारूढ़ हूणों ने पहले वेष्टनी को पार करने का प्रयत्न किया किंतु भीतर से सम्राट् के सैनिकों ने

नाना प्रकार के अस्त्रों की वर्षा करके उनका प्रयत्न विफल कर दिया। इस प्रकार अपनी सारी चेष्टाएँ निष्फल हो जाने पर हूण अश्वारोही स्तूप से कुछ दूर जाकर विश्राम करने लगे। उसी समय सिर से लेकर पैर तक कवच धारण किए एक नवयुवक सैनिक तोरण के बाहर आकर शत्रु सेना की गति-विधि की थाह लेने लगा। बचे हुए साम्राज्य के सैनिक वेष्टनी के भीतर विश्राम का आयोजन कर रहे थे। इनकी संख्या लगभग दो सहस्र थी। सेनाधिकारियों ने हूणों की गतिविधि से अनुमान किया कि अभी कुछ काल तक युद्ध स्थगित रहेगा। शाखा-पत्र सहित वृक्षों से चारो तोरणद्वारों को दृढ़तापूर्वक अवरुद्ध करके सेनापति तथा सैनिकगण स्तूप के ऊपरी भाग तथा परिक्रमणपथ पर सो गए। केवल दो-चार पैदल सैनिक तथा कीरदेशीय कुछ कुत्ते जाग रहे थे। धीरे धीरे हूणों के स्कंधावार में भोजन के लिये जलाई गई अग्नि बुझ गई और दोनों पक्षों की सेनाएँ सो गईं। दो प्रहर रात्रि बीतने पर कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के घोर अंधकार को भेदकर कतिपय रात्रिचर जीव चींटी की भाँति धीरे धीरे वेष्टनी के समक्ष आते हुए प्रतीत हुए। पास आने पर देखा कि ये जीव पशु नहीं मनुष्य हैं। धीरे धीरे, एक एक करके, सँभाल-सँभालकर पैर रखते हुए पचीस हूण सैनिक वेष्टनी के सामने अग्रसर हो रहे थे। उस समय तक प्रहरी भी सो गए थे और केवल कुत्ते वेष्टनी की रक्षा कर रहे थे। पूर्वी तोरण के पास पहुँचकर हूणों का दल कुछ काल के लिये रुका और झोलियों से कपूर का चूर्ण निकाल-निकालकर चारों ओर छिड़कने लगा। कपूर का तीव्र गंध कुत्तों को प्रभावित न कर सका और उन्होंने

जोर-से भूकना आरंभ किया। आँखें मलते हुए रक्षक प्रहरी उठ बैठे और उन्होंने देखा कि दो हूण आलंबन के ऊपर चढ़ आए हैं। तत्काल प्रहरियों ने उन्हें बाणों से बेध डाला। अचानक बाधा पड़ने पर हूणों ने तूर्यनाद किया। दूर से वैसे ही तूर्यनाद द्वारा उत्तर आया और तत्काल हूणों के स्कंधावार में सैकड़ों उल्काएँ प्रज्ज्वलित हो उठीं। साम्राज्य के सैनिक तब तक चैतन्य नहीं हुए थे। हूणों की अवशिष्ट सेना ने आकर वेष्टनी पर वज्र के समान आक्रमण किया किंतु इधर के प्रतिरोध के कारण उसे तत्काल सैकड़ों हाथ पीछे हट जाना पड़ा। इस प्रकार बारंबार आक्रांत होने पर भी साम्राज्य के सैनिकों ने आत्मसमर्पण नहीं किया। युद्ध समाप्ति के पहले ही पूर्व दिशा की ओर उजेला होने लगा। साम्राज्य के सैनिक जोर-से जयजयकार कर उठे। हूणों ने वेष्टनी पर पुनः आक्रमण करना आरंभ कर दिया था। जिस समय आलंबन के ऊपर वाले भाग पर युद्ध हो रहा था उस समय नीचे कतिपय हूण सैनिक तेल में भिगोए हुए कपड़ों की सहायता से वृक्षों में आग लगाने की चेष्टा कर रहे थे। प्रातःकालीन युद्ध समाप्त होने के पहले ही वेष्टनी के चारो चोर भयंकर अग्नि जल उठी और उसके भीतर रहना प्राणिमात्र के लिये असंभव हो गया। यमराज सदृश हूण अश्वारोही उल्लास से चीत्कार कर उठे और वृत्ताकार व्यूह-रचना करके उन्होंने वेष्टनी को घेर लिया। वेष्टनी से कोई प्राणी जीवित अवस्था में निकल न भागे, इसके लिये वे कृतसंकल्प थे। इतने में सिंह के समान गरजते हुए पूर्वोक्त वर्म्मधारी नवयुवक तोरण-मार्ग की ओर अग्रसर हुए।

एक हूण पदाति सैनिक ने उनके शिरस्त्राण को लक्ष्य करके खड्ग चलाया। विद्युद्गति से नवयुवक ने खड्गाघात को निष्फल कर दिया, किंतु फिर भी उनके शिरस्त्राण का ऊपरी भाग कटकर भूमि पर गिर पड़ा और इसके साथ ही हजारों कंठों से निकला हुआ स्कंदगुप्त का जयजयकार स्तूप-प्रदेश में गूँज उठा। बाहर हूणों ने समझा कि कोई संकट घटित होनेवाला है। बहुत दिनों बाद स्कंदगुप्त को देखकर सैनिकों का उत्साह दूना हो गया। उनके नेतृत्व में पाँच सौ सैनिकों का दल कौशलपूर्वक हूणों का व्यूह भेदकर जंगल की ओर निकल गया। पचास सहस्र हूण सैनिक चित्रवत् खड़े देखते रहे, उनसे पाँच सौ सैनिकों को रोकते नहीं बना। किसी किसी हूण सैनिक ने वन के भीतर जाकर उनका पता लगाने की चेष्टा की किंतु उन पाँच सौ सैनिकों के पीछे जितने हूण सैनिक जंगल में घुसे उन्हें फिर किसी ने वापस लौटते नहीं देखा। पचास वर्ष बाद जालंधर और उज्जयिनी के वृद्ध हूण अपने बच्चों को स्कंदगुप्त के रण-कौशल की कहानी सुनाया करते थे और बच्चे उसे सुन-सुनकर मंत्रमुग्ध हो जाते थे। एक सौ वर्ष बीतने पर आर्यावर्त्त की महिलाएँ नित्य प्रातःकाल हूण रूपी राक्षसों के ग्रास से देवताओं, स्त्रियों और हरे-भरे अन्नक्षेत्रों के परित्राण-कर्त्ता स्कंदगुप्त का स्तुतिगान किया करती थीं। सुदूर वंग देश के वृद्ध धीवर महाविपत्ति से उद्धार करनेवाले स्कंदगुप्त का गुणगान करते करते इतने भक्ति-गद्गद हो जाया करते थे कि अश्रुजल से उनका वक्षस्थल भीग जाता था।

उत्ताप और दाह की असह्य यंत्रणा का अनुभव जिन्होंने कभी

जोर-से भूकना आरंभ किया। आँखें मलते हुए रक्षक प्रहरी उठ बैठे और उन्होंने देखा कि दो हूण आलंबन के ऊपर चढ़ आए हैं। तत्काल प्रहरियों ने उन्हें बाणों से वेध डाला। अचानक बाधा पड़ने पर हूणों ने तूर्यनाद किया। दूर से वैसे ही तूर्यनाद द्वारा उत्तर आया और तत्काल हूणों के स्कंधावार में सैकड़ों उल्काएँ प्रज्ज्वलित हो उठीं। साम्राज्य के सैनिक तब तक चैतन्य नहीं हुए थे। हूणों की अवशिष्ट सेना ने आकर वेष्टनी पर वज्र के समान आक्रमण किया किंतु इधर के प्रतिरोध के कारण उसे तत्काल सैकड़ों हाथ पीछे हट जाना पड़ा। इस प्रकार बारंबार आक्रांत होने पर भी साम्राज्य के सैनिकों ने आत्मसमर्पण नहीं किया। युद्ध समाप्ति के पहले ही पूर्व दिशा की ओर उजेला होने लगा। साम्राज्य के सैनिक जोर-से जयजयकार कर उठे। हूणों ने वेष्टनी पर पुनः आक्रमण करना आरंभ कर दिया था। जिस समय आलंबन के ऊपर वाले भाग पर युद्ध हो रहा था उस समय नीचे कतिपय हूण सैनिक तेल में भिगोए हुए कपड़ों की सहायता से वृक्षों में आग लगाने की चेष्टा कर रहे थे। प्रातःकालीन युद्ध समाप्त होने के पहले ही वेष्टनी के चारो चोर भयंकर अग्नि जल उठी और उसके भीतर रहना प्राणिमात्र के लिये असंभव हो गया। यमराज सदृश हूण अश्वारोही उल्लास से चीत्कार कर उठे और वृत्ताकार व्यूह-रचना करके उन्होंने वेष्टनी को घेर लिया। वेष्टनी से कोई प्राणी जीवित अवस्था में निकल न भागे, इसके लिये वे कृतसंकल्प थे। इतने में सिंह के समान गरजते हुए पूर्वोक्त वर्म्मधारी नवयुवक तोरण-मार्ग की ओर अग्रसर हुए।

एक हूण पदाति सैनिक ने उनके शिरस्त्राण को लक्ष्य करके खड्ग चलाया। विद्युद्गति से नवयुवक ने खड्गाघात को निष्फल कर दिया, किंतु फिर भी उनके शिरस्त्राण का ऊपरी भाग कटकर भूमि पर गिर पड़ा और इसके साथ ही हजारों कंठों से निकला हुआ स्कंदगुप्त का जयजयकार स्तूप-प्रदेश में गूँज उठा। बाहर हूणों ने समझा कि कोई संकट घटित होनेवाला है। बहुत दिनों बाद स्कंदगुप्त को देखकर सैनिकों का उत्साह दूना हो गया। उनके नेतृत्व में पाँच सौ सैनिकों का दल कौशलपूर्वक हूणों का व्यूह भेदकर जंगल की ओर निकल गया। पचास सहस्र हूण सैनिक चित्रवत् खड़े देखते रहे, उनसे पाँच सौ सैनिकों को रोकते नहीं बना। किसी किसी हूण सैनिक ने वन के भीतर जाकर उनका पता लगाने की चेष्टा की किंतु उन पाँच सौ सैनिकों के पीछे जितने हूण सैनिक जंगल में घुसे उन्हें फिर किसी ने वापस लौटते नहीं देखा। पचास वर्ष बाद जालंधर और उज्जयिनी के वृद्ध हूण अपने बच्चों को स्कंदगुप्त के रण-कौशल की कहानी सुनाया करते थे और बच्चे उसे सुन-सुनकर मंत्रमुग्ध हो जाते थे। एक सौ वर्ष बीतने पर आर्यावर्त्त की महिलाएँ नित्य प्रातःकाल हूण रूपी राक्षसों के ग्रास से देवताओं, स्त्रियों और हरे-भरे अन्नक्षेत्रों के परित्राण-कर्त्ता स्कंदगुप्त का स्तुतिगान किया करती थीं। सुदूर वंग देश के वृद्ध धीवर महाविपत्ति से उद्धार करनेवाले स्कंदगुप्त का गुणगान करते करते इतने भक्ति-गद्गद हो जाया करते थे कि अश्रुजल से उनका वक्षस्थल भीग जाता था।

उत्ताप और दाह की असह्य यंत्रणा का अनुभव जिन्होंने कभी

नहीं किया उनके लिये हमारे वर्णनातीत कष्ट को समझना संभव नहीं है। आलंबन, स्तंभ, सूची का भीतरी भाग तथा तोरण वृक्ष की शाखाओं से ढँक दिए गए थे। आग लगने पर गीले काष्ठ धीरे धीरे सूखने लगे, फिर एकबारगी धधककर उनकी लपट आकाश छूने लगीं। मैं समझ गया कि इस प्राचीन स्तूप का विनाशकाल आ गया है। आर्त्तिमिदोर के कुशल हाथों द्वारा बड़े परिश्रमपूर्वक बनाया गया दक्षिणी तोरण के शिखर का धर्मचक्र धम्म-से नीचे गिर पड़ा। थोड़ी देर पश्चात् उत्तरी तोरण का अठपहल स्तंभ भयंकर शब्द करता हुआ फटकर टुकड़े टुकड़े हो गया। वेष्टनी के स्तंभ स्थान स्थान पर धराशायी होने लगे और प्रज्ज्वलित अग्नि की लोल जिह्वाएँ आकाश की ओर फूत्कार करने लगीं। धीरे धीरे वेष्टनी के पास एकत्र वृक्षों तक अग्नि पहुँच गई और चारो ओर से विदीर्ण होते हुए पाषाणों का आर्त्तनाद सुनाई पड़ने लगा। अग्नि का उत्ताप अत्यंत प्रखर हो गया था। क्रमशः समस्त वर्त्तुलाकार स्तूप काँपने लगा और पृथ्वी से सहस्रों वज्रों के संमिलित निर्घोष के समान शब्द होने लगा। महाराज धनभूति के अथक परिश्रम से निर्मित स्तूप, महास्थविर के भिक्षालब्ध द्रव्य से निर्मित स्तूप, सिंहदत्त का प्राणाधिक प्रिय तथागत का भस्मावशेष, सब कुछ एक साथ स्वाहा हो रहा था। भयंकर रव करता हुआ गर्भगृह भस्म-पात्र के आधार पर गिर पड़ा; उससे भी अधिक भयंकर शब्द के साथ पाषाण-निर्मित अर्द्धवर्त्तुल दो टुकड़े हो गया। बृहदाकार पत्थरों के विस्फोट और पतन की गड़गड़ाहट के आगे सर्वभुक् अग्नि का गर्जन किंचित् काल के लिये दब गया तथा धूल और धुएँ के बादल

उठने लगे। अपनी दारुण पीड़ा दूर होने के पहले ही सोचने लगा कि स्तूप तो ध्वस्त हो गया, किंतु सिंहदत्त ने घोर प्रयत्न करके तथागत का जो भस्मावशेष संचित किया था वह तक्षशिला नहीं भेजा जा सका। मुझे ज्ञात हुआ था कि तक्षशिला महाविहार के ध्वंसावशेष के ऊपर जो हरा-भरा मैदान बन गया है उसमें टेढ़ी नासिकावाले दरदवंशी चरवाहे पशु चराते और वंशी बजाया करते हैं। पचास वर्ष पूर्व तक्षशिला के प्राणी-प्राणी हूणों के हाथों मार डाले गए। मैं व्याकुल होकर सिंहदत्त को पुकार उठा। स्तूप को ध्वस्त करके अग्नि की लपटें जंगल में चारो ओर फैलने लगी थीं और मंडलाकार धूमराशि आकाश में छाती जा रही थी। मैंने देखा कि तेजःस्नात दिव्यशरीरी सिंहदत्त मुसकुराते हुए सूर्यलोक से अवतरित हो रहे हैं। सिंहदत्त की छाया स्तूप के ध्वंसावशेष पर चारो ओर घूमने लगी और मानों दारुण यंत्रणा से व्याकुल पाषाण-कणों को संबोधित करती हुई कहने लगी—'जिनकी अस्थि के ऊपर इस स्तूप का निर्माण हुआ था वे वहाँ विराजमान हैं, मैं भी वहीं हूँ। पाटलीपुत्रवासी महास्थविर, महाराज धनभूति तथा अपूर्व कलाकुशल यवन शिल्पी भी वहीं हैं। वहाँ धर्म, कर्म, ब्राह्मण, श्रमण, यति, भिक्षु, स्तूप, मंदिर, किसी की भी आवश्यकता नहीं है। तक्षशिला के नागरिकों ने सर्वदा के लिये उस नगरी का परित्याग कर दिया है। महाराज धनभूति की प्रजा ने इससे भी सैकड़ों वर्ष पूर्व अपनी नगरी का त्याग कर दिया था। मैंने अभिमान के साथ कहा था कि यहाँ के नागरिक भगवान तथागत के धर्म के प्रति यदि कभी गतश्रद्ध हो जायँ तो तथागत का भस्माधार तक्षशिला महाविहार के

अध्यक्ष को वापस कर देना होगा। मेरा वह अभिमान चूर चूर हो गया। महाराज धनभूति की नगरी तक्षशिला से पहले ही ध्वस्त अवश्य हो चुकी थी; किंतु तथागत के भस्मावशेष के प्रति लोगों की पूज्यबुद्धि ज्यों की त्यों बनी हुई थी। परंतु स्तूप जिस दिन ध्वस्त हुआ उस दिन तो तक्षशिला में एक मनुष्य भी जीवित नहीं था जो तथागत के भस्माधार को ग्रहण करता।' इतना कहकर अशरीरी सिंहदत्त धुएँ, धूलि और सायंकालीन अंधकार के बीच अंतर्हित हो गए। उधर दूरस्थ पर्वत के उपकंठ में प्रज्ज्वलित जंगल अमावस्या के घोर अंधकार को नष्ट करने की चेष्टा कर रहा था।

पाँच सौ सैनिकों को लेकर स्कंदगुप्त कहाँ गए, इसे तुम लोगों के पूर्वपुरुष इतिहास में लिपिबद्ध कर गए हैं। कीटभुक्त जीर्ण-शीर्ण ग्रंथों का उद्धार करो, इसका पता लग जायगा। आँखें खोलकर देखो, लगभग पाँच सौ सैनिक गंगा-यमुना के संगम पर पहुँच गए हैं और त्रस्त नागरिक अस्त्र-शस्त्र-धारी सैनिकों को देखकर भागने की चेष्टा कर रहे हैं। एक सैनिक ने जोर-से चिल्लाकर कुछ कहा। उधर देखो, भागते हुए नागरिक वापस लौट रहे हैं और झुंड के झुंड नर-नारी उस शिरस्त्राण-विहीन, नंगे पैर वाले युवक के संमुख नतमस्तक हो रहे हैं। इन आगंतुकों का समाचार विद्युद्गति से दग्धावशिष्ट नगरी के चारो ओर फैल गया है। नगर के प्रधान दंडनायक स्थाणुदत्त आ रहे हैं। जो जनता मार्गश्रम से क्लांत, मलिन वेशधारी, भूखे सैनिकों का मार्ग रोके खड़ी थी उसने आदरपूर्वक रास्ता छोड़ दिया है। हाथी या घोड़े पर आरूढ़ न होकर खल्वाट स्थाणुदत्त नंगे सिर उस युवक की

ओर अग्रसर हो रहे हैं और प्रत्येक सैनिक अपना शिरस्त्राण स्पर्श करके अभिवादन कर रहा है। प्रतिष्ठान का दंडनायक होने के पूर्व स्थाणुदत्त चंद्रगुप्त द्वितीय के विशाल साम्राज्य के महाबलाधिकृत थे; प्रत्येक युद्ध में उनका घोड़ा चंद्रगुप्त द्वितीय की बगल में दिखाई पड़ता था। वे कुमारगुप्त और गोविंदगुप्त के शिक्षा-गुरु तथा स्कंद के लिये पितामह-तुल्य थे। उनके दाहिनी ओर ज्येष्ठ पुत्र अणुदत्त थे जिन्होंने प्रण किया था कि राजशक्ति की सहायता मिलने पर वृद्ध पिता के आदेशानुसार मैं हूण सेना को मरुदेश के उस पार खदेड़ भगाऊँगा। इसी कारण हूणराज तोरमाण के आदेशानुसार उनका दाहिना हाथ काट डाला गया था। उनके पुत्र हरिदत्त ने प्रतिष्ठान नगरी की रक्षा करते हुए अपना प्राण उत्सर्ग कर दिया था। स्थाणुदत्त के बाईं ओर उनके कनिष्ठ पुत्र प्रतिष्ठान नगरी के अधिष्ठानाधिकरण विचारपति नागदत्त थे। संतान-विहीन नागदत्त वृद्ध पिता के कष्ट तथा अग्रज की शारीरिक एवं मानसिक दशा से अत्यंत व्याकुल थे। हरिदत्त के चिरवियोग के अश्रु तब तक सूखे भी नहीं थे। लौह-निर्मित त्रिशूल को टेकते हुए वृद्ध स्थाणुदत्त आगे बढ़े और शिरस्त्राण - रहित युवक को देखते ही उनका मुख - मंडल उद्दीप्त हो उठा। केवल 'महाराज' संबोधन के अनंतर उनकी वाक्शक्ति कुंठित हो गई। स्कंदगुप्त भी इस संबोधन से एक बार चौंक पड़े।

धीरे धीरे अणुदत्त ने सारी कथा सुनाई—कुमारगुप्त ने अपनी इहलीला समाप्त कर दी, बालक पुरगुप्त नाममात्र के लिये सम्राट् हुए हैं, डूबती हुई तरणी की पतवार युवती विधवा के हाथों में है,

फिर भी चंद्रगुप्त द्वितीय की अलौकिक शिक्षा के फलस्वरूप दामोदर शर्मा एवं गोविंदगुप्त नतमस्तक होकर आज्ञापालन कर रहे हैं। वृद्ध दामोदर शर्मा दुश्चरित्र महादेवी के विलास-व्यसन की तृप्ति के लिये प्रजा का उत्पीड़न कर रहे हैं तथा अस्त्र-शस्त्र-रहित भूखी सेना के साथ गोविंदगुप्त मगध की रक्षा के लिये नियुक्त किए गए हैं। पिता पुत्र तीनों ने नतजानु होकर भिक्षुकवत् स्कंद के प्रति सम्राट् की भाँति अभिवादन किया।

स्थाणुदत्त कहने लगे—'समुद्रगुप्त की नीति के अनुसार साम्राज्य का जो कुछ भी अवशिष्ट है, आप उसके अधीश्वर हैं। मेरे वंश का लोप हो रहा है, फिर भी शेष जीवन के अंतिम क्षण तक मैं साम्राज्य की सेवा के लिये प्रस्तुत हूँ। नागदत्त प्रतिष्ठान की रक्षा करेगा। एकहत्था पुत्र और अस्सी वर्ष का यह पिता दोनों छाया की भाँति सम्राट् का अनुसरण करेंगे। महाराज, इन्हीं दुर्बल हाथों से एक बार गुरुत्वशाली गरुड़ध्वज को शिप्रातट से सुदूर पश्चिमी समुद्रतट तक ले गया था। साम्राज्य के कल्याण के लिये अब भी उसे सिंधुतट पर स्थापित कर सकता हूँ।'

नंगे सिर, नंगे पैर, फटे-पुराने वस्त्र और टूटा-फूटा कवच धारण किए, दीन-हीन भिक्षुक सम्राट् ने अपने पितामह के साथी को आलिंगन-पाश में बाँध लिया। भली भाँति देखो, नवीन उत्साह और नवीन बल के साथ वृद्ध स्थाणुदत्त विशाल गरुड़ध्वज लिए हाथी पर आरूढ़ हैं और साम्राज्य की सेना हूणयुद्ध के लिये पश्चिम की ओर अभियान कर रही है। ब्रह्मावर्त्त में

गंगातट पर पराभूत होकर तोरमाण को विश्वास हो गया कि गुप्त साम्राज्य में नवीन और अद्भुत् शक्ति का विकास हुआ है। आर्यावर्त्त में उसकी यह प्रथम पराजय थी। दुर्लंघ्य गोपाद्रि शिखर पर जाकर उसने शरण ली। रेवा से लेकर गंगा तक का समस्त भू-भाग हूणों के ग्रास से मुक्त हो गया। गंगा के उत्तरी तट से लेकर हिमालय तक साम्राज्य का आधिपत्य स्थापित हो गया। उत्तर मरु से सैनिक सहायता मिले बिना तोरमाण की रक्षा का कोई उपाय नहीं था; गोपाद्रि का पतन अवश्यंभावी था। किंतु विधाता की इच्छा दूसरी ही थी। दूत ने आकर समाचार दिया कि चरणाद्रि शिखर में गोविंदगुप्त मृत्युशय्या पर हैं; स्कंदगुप्त के आने का समाचार पाटलीपुत्र में फैल गया है; तथा वृद्ध पितृव्य भ्रातुष्पुत्र से साक्षात् करना चाहते हैं। सम्राट् गोपाद्रि पर अधिकार नहीं कर सके। क्षुब्ध और विवश स्कंदगुप्त को तोरमाण से संधि करनी पड़ी। संधिसूत्र के अनुसार स्कंदगुप्त को गोपाद्रि का दुर्ग मिला अवश्य, किंतु वही दुर्ग उनके साम्राज्य की पश्चिमी सीमा निर्दिष्ट हुआ। वृद्ध स्थाणुदत्त को गोपाद्रि की रक्षा के लिये नियुक्त करने के उपरांत स्कंदगुप्त अश्वारोही सेना के साथ द्रुत गति से चरणाद्रि की ओर बढ़े आ रहे हैं। आँखें खोलो, देखो, चरणाद्रि शिखर के दुर्ग के भीतर उस कक्ष में मुमूर्षु गोविंद-गुप्त सम्राट् को अंतिम उपदेश प्रदान कर रहे हैं। सुनो, गोविंदगुप्त की स्थिर और गंभीर वाणी उस कक्ष में अभी तक गूँज रही है—'बेटा स्कंद, समुद्रगुप्त के गरुड़ध्वज के संमान की रक्षा करना; देखना, तोरमाण का कोई वंशज पाटलीपुत्र के सिंहासन पर कभी न बैठने

पाए। देवताओं और ब्राह्मणों की, स्त्रियों और बच्चों की सर्वदा रक्षा करना। और देखना स्कंद, तुमसे बन पड़े तो जिसके कारण समुद्रगुप्त का यह विशाल साम्राज्य ध्वस्त हुआ उसको यथोचित शास्ति करने में चूकना मत। विमाता समझकर भीत मत होना। वह तुम्हारे पिता की परिणीता पत्नी नहीं है। देखते हो कि मगध, तीरभुक्ति, काशी तथा कोशल की समस्त प्रजा ने राजस्व देना अस्वीकार कर दिया है। उसका कहना है कि धन-धान्य की रक्षा करने पर ही सम्राट् को षष्ठांश प्राप्त होगा, अन्यथा नहीं। समुद्रगुप्त की जगद्विख्यात राजनीति के अनुसार गुप्तवंश का ज्येष्ठ पुत्र ही सिंहासन का अधिकारी होता है। यह साम्राज्य स्कंदगुप्त का है, पुरगुप्त का नहीं।'

उधर देखो, उद्दंडपुर के दुर्ग में महादेवी और पुरगुप्त बंदी हैं। विश्वासघातक तोरमाण ने गोपाद्रि पर पुनः आक्रमण कर दिया है। उसने अपना दूत न भेजकर संधिभंग किया है फलतः हूणयुद्ध पुनः आरंभ हो गया है। द्वितीय हूणयुद्ध में मैत्रक सेनापति भट्टारक को क्यों राजपद ग्रहण करना पड़ा, क्यों स्कंदगुप्त को स्वयं अपने हाथों समुद्रगुप्त का राजमुकुट भट्टारक के मस्तक पर स्थापित करना पड़ा, इसका इतिहास अभी लुप्त नहीं हुआ है। स्तूप-विध्वंस के साथ ही साथ मनुष्यों के साहचर्य में रहने की अथवा बाहरी संवाद पा सकने की मेरी आशा भी समाप्त हो गई है।

१०

स्कंदगुप्त जिस समय साम्राज्य के ध्वंसावशेष के ऊपर सिंहासन स्थापित करने की चेष्टा में संलग्न थे उस समय हम लोगों के ध्वंसावशेष के ऊपर नई नई वनस्पतियाँ अपना आधिपत्य जमाने में संलग्न थीं। वर्षारंभ होते ही हमारे ध्वंसावशेष के ऊपरी भाग को नवीन दूर्वादलों ने आच्छादित कर लिया, स्थान स्थान पर अश्वत्थ और वट के वृक्ष भी मुझे बढ़ते हुए दिखाई पड़ रहे थे, क्योंकि विशाल स्तूप के गिर पड़ने पर भी मैं अपना सिर ऊँचा किए हुए था। वर्षाकाल बीत जाने पर देखा कि स्तूप और वेष्टनी भी दूर्वादलों से आटोपित हो गई है और उस बृहदाकार स्तूप का केवल आभास मात्र प्रतीत हो रहा है। वेष्टनियाँ यत्र-तत्र रक्तमांसविहीन कंकाल की भाँति खड़ी हैं। जहाँ तक दृष्टि जाती थी, केवल दूर्वादल से हरा भरा मैदान छोड़कर और कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता था। वह वन्य प्रदेश पुनः जनशून्य हो गया था। दूर पर मिट्टी का ऊँचा-सा पिंड दिखाई दे रहा था। मैं सोचने लगा कि यही महाराज धनभूति की नगरी का ध्वंसावशेष है। सामने उस पिंड के

ऊपर दो और छोटे छोटे पिंड प्राचीन नगरी के तोरण का स्थान-निर्देश कर रहे थे। आधा हेमंत बीत जाने पर एक दिन प्रातःकाल उत्तर की ओर किसी मनुष्य की आहट सुनाई पड़ी, जान पड़ा जैसे कोई धीरे धीरे स्तूप की ओर अग्रसर हो रहा है। हाँ, 'स्तूप की ओर' ही कह रहा हूँ। तुम कहोगे कि स्तूप का तो अस्तित्व ही लुप्त हो चुका था, किंतु अस्तित्व-लोप की बात स्वीकार करने में मुझे कैसी मर्मांतक वेदना होती है, इसे तुम क्या जानो! मैं तो कहूँगा कि स्तूप आज भी वर्तमान है—अशोक अथवा कनिष्क की भाँति सद्धर्म के प्रति अनुराग रखनेवाले कोई सम्राट् आएँगे और उनके द्वारा ध्वंसावशिष्ट स्तूप का पुनःसंस्कार होगा। एक सहस्र वर्ष तक इसी आशा के बल पर मैं खड़ा रहा। देखता था कि ध्वंसावशेष में से होकर नवीन स्तूप ऊपर उठ रहा है, जो कुछ पुरातन है उसका संस्कार किया जा रहा है, जीर्ण पाषाणों के स्थान पर नूतन पाषाण लाए जा रहे हैं और पत्र-पुष्प एवं माल्य-चंदनादि से स्तूप पुनः सुशोभित हो रहा है। सूर्यास्त से लेकर सूर्योदय पर्यंत देखता था कि सायंकालीन स्नान और प्रसाधन के उपरांत प्रज्ज्वलित मधुवर्त्तिका हाथों में लिए नागरिक एवं नागरिकाएँ तोरण-मार्ग से होकर वेष्टनी में प्रवेश कर रही हैं, भिक्षुओं के दल स्तूप की प्रदक्षिणा करके तथागत की अर्चना कर रहे हैं, गर्भगृह का प्रस्तर-द्वार अपना स्वाभाविक शब्द करता हुआ उन्मुक्त हो रहा है, पाषाण-निर्मित आधार में सुरक्षित तथागत के भस्मावशेष का पूजन हो रहा है और गंधद्रव्यों तथा पुष्पों से गर्भगृह का पथ आच्छादित हो उठा है। प्रातःकाल होने पर पक्षियों का कलरव इस कल्पना को उड़ा ले जाता

और तत्काल दिन का निष्ठुर प्रकाश आकर हमें वर्तमान परिस्थिति का बोध करा देता। तब देखता कि स्तूप के बदले मिट्टी के पिंडों पर जमी हुई वनस्पतियाँ हेमंत की ओस से आच्छादित हैं और केवल थोड़े से पाषाण-खंड युद्धक्षेत्र के मांस-मज्जा-रहित अस्थिपंजर के समान इधर-उधर बिखरे पड़े हैं।

जान पड़ा जैसे दूर पर कोई बड़े कष्ट से चल रहा है। उसके दोनों पैर उसका शरीर-भार वहन करने में असमर्थ हो गए हैं और उसे बारंबार विश्राम के लिये रुकना पड़ रहा है किंतु तत्काल न जाने किस आशा से अनुप्राणित होकर पुनः उसके चरण चल पड़ते हैं। निकट आने पर दिखाई पड़ा कि फटे-पुराने वस्त्रों में लिपटा, दंतविहीन, श्वेतकेश, शुष्कचर्म कोई व्यक्ति स्तूप की ओर आ रहा है। मिट्टी के पिंड के पास आने पर सबसे पहले वह मुझको ही देखने लगा क्योंकि मेरा मस्तक सबकी अपेक्षा ऊँचा था। मेरे पास पहुँचकर जैसे उसे यंत्रणा से मुक्ति मिल गई एवं उसने पाषाण से पीठ सटाकर बहुत देर तक विश्राम किया। तत्पश्चात् धीरे धीरे स्तूप तथा वेष्टनी के परिक्रमण-पथ की उसने परीक्षा की और लौटकर पुनः मेरे पास बैठ गया। दिन भर वह ध्वंसावशेषों को देखता रहा। कहीं पर कोई भग्न स्तंभ आधा भूमि में धँसा हुआ था, कहीं टूटी हुई सूची के कोटरों में मंडूकों ने अपना घर बना लिया था, छिन्नशीर्ष तोरणस्तंभों के ऊपर पक्षियों ने नीड़ बना लिए थे, जो स्तंभ खड़े थे उनके विकलांग अग्नि के प्रचंड उत्ताप तथा दाहिका-शक्ति की साक्षी दे रहे थे, सूची एवं स्तंभ पर जो

दृश्यावली उत्कीर्ण थी वह हूणों के अस्त्राघात तथा भयंकर अग्नि के कारण बीभत्स हो गई थी तथा आलेख्य-माला की शिर-विहीन, नासिका-विहीन मनुष्य-मूर्त्तियाँ स्तूप एवं वेष्टनी की वर्तमान अवस्था का परिचय दे रही थीं। एक अर्द्धखंडित स्तंभयुगल के ऊपर वृक्ष की शाखा स्थापित करके यत्रतत्र बिखरे हुए पाषाण - खंडों की सहायता से एवं जंगल से कुशादि का संग्रह करके संध्या होने से पहले वृद्ध ने एक विचित्र कुटी बना डाली और दिन का प्रकाश लुप्त होते होते उसके भीतर शुष्क तृणादि की शय्या बनाकर विश्राम करने लगा। उस दिन से वह वृद्ध व्यक्ति हमलोगों का सहचर हो गया। प्रातःकाल उठकर वह प्राचीन नगरी के पास होकर बहनेवाली छोटी-सी नदी में स्नान कर आता और वन्य पुष्पों का संग्रह करके मिट्टी के पिंडों की पूजा करता था। इसके पश्चात् दोपहर तक हमारी छाया में बैठा बैठा मन ही मन कुछ बड़बड़ाता रहता था। वह नित्य 'विमलाकीर्त्ति भट्टारिकानिष्पादिता' कहकर मृत्तिका - पिंड को नमस्कार किया करता था। इसके अतिरिक्त उसकी और कोई बात समझ में नहीं आती थी। अपराह्न में आहार-संग्रह के निमित्त वह वन के भीतर चला जाता था। वन के फलों का ही वह आहार करता था, केवल कभी कभी पत्तों का दोना बनाकर दूध की भाँति श्वेतवर्ण कोई वस्तु ले आता था। संभवतः दूध के लिये वह वनमार्ग पार करके दूरवर्ती ग्रामों तक चला जाता था। इसी प्रकार शीतऋतु के अनंतर ग्रीष्मऋतु, ग्रीष्म के अनंतर वर्षाऋतु बीत गई और पीपल तथा बरगद के दोनों वृक्ष बढ़कर थोड़ी छाया करने लगे। वृद्ध इसी प्रकार हम लोगों के साथ शांतिपूर्वक कालयापन करने लगा।

तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल के नेतृत्व में हूणों की सेना अपना द्वितीय अभियान करने निकली। गंगा के अविराम प्रवाह के समान हूणों की पंक्तियाँ आर्यावर्त्त में प्रविष्ट हो रही थीं। तोरमाण की मृत्यु के बाद से हूणों के बाउल उपयुक्त नेता के अभाव में इधर-उधर बिखरते जा रहे थे। मिहिरकुल के प्रयत्न से उनका अधिकांश पुनः संघटित हुआ और हूण-सेना ने मगध की ओर प्रस्थान किया। दूसरी सेना मिहिरकुल के अनुज खिंगिल के सेनापतित्व में निर्जन मरुभूमि को पारकर सौराष्ट्र की ओर बढ़ती चली गई एवं नगर के ऊपर लहराता हुआ गरुड़ध्वज प्रभंजनाक्रांत कदली वृक्ष के समान धराशायी हो गया। कालिंदी को पारकर मिहिरकुल ने ब्रह्मावर्त्त में शिविर स्थापित किया। वृद्ध सम्राट् द्रुत वेग से आने पर भी वाराणसी के आगे नहीं बढ़ पाए। ब्रह्मावर्त्त में अणुदत्त तथा प्रतिष्ठान में नागदत्त सीमांत-संरक्षण में व्यस्त थे। सिंहविक्रम स्थाणुदत्त के पुत्र भागीरथी के तट की रक्षा कर रहे थे। पारावारवत हूण सेना को उस पार जाने का साहस नहीं होता था। प्रतिष्ठान में नागदत्त नौवाटक लेकर त्रिवेणी की रक्षा के लिये सतर्क थे। सम्राट् ने चरणाद्रि के दुर्ग में सौराष्ट्र के पतन का समाचार सुना। यह भी सुना कि साम्राज्य के दो अवयव आनर्त्त और मालव साम्राज्य के शरीर से काटकर पृथक् कर दिए गए। असहाय वृद्ध का मस्तक अवनत हो गया। सहसा चरणाद्रि-शिखर के उस कक्ष में खड़े होकर और जाह्नवी को साक्षी बनाकर, तलवार को स्पर्श करके वृद्ध ने शपथ लिया कि मालव तथा आनर्त्त एवं मत्स्य तथा मरु पर पुनः अधिकार किए बिना लौटकर

पाटलीपुत्र नहीं आएँगे। शपथ सुनकर वृद्ध सेनानियों का भी हृदय कंपित होने लगा। स्कंदगुप्त ने एक बार पुनः प्रतिज्ञा की। चरणाद्रि के दुर्ग में पितृव्य गोविंदगुप्त की मृत देह को स्पर्श करके युवक सम्राट् ने शपथ ग्रहण की थी कि उनके वंश का कोई भी व्यक्ति मगध के राज्य-सिंहासन की रक्षा के संबंध में कभी विवाद नहीं करेगा। शांतनुनंद भीष्म के समान भयंकर प्रतिज्ञा का पालन करने के लिये सम्राट् ने आजीवन विवाह नहीं किया। उद्दंडपुर के दुर्ग में बंदी पुरगुप्त मगध के राज्य-सिंहासन के भावी उत्तराधिकारी थे। चरणाद्रि से सौराष्ट्र तक का पथ कई दिनों का था, फलतः मगध में जो लोग अपना परिवार छोड़ आए थे उन्होंने वापस जाने की आशा भी छोड़ दी। सम्राट् चरणाद्रि से प्रतिष्ठान की ओर अग्रसर हुए।

मिहिरकुल के आह्वान पर प्रतिदिन सैकड़ों की संख्या में हूण गण आर्यावर्त्त में प्रविष्ट हो रहे थे। उनके आक्रमण के कारण गांधार पर सैकड़ों वर्षों से चला आता हुआ कुषाणों का अधिकार छिन गया और इस प्रकार आर्यावर्त्त से कनिष्क के विशाल साम्राज्य का एकमात्र अवशिष्ट चिह्न भी लुप्त हो गया। गंगातट पर प्रतिदिन हूणों का बल बढ़ता जा रहा था। अपने सैन्य परिमाण पर भरोसा करते हुए मिहिरकुल ने उसे गंगा पार करने का आदेश दिया। भरसक प्रत्येक प्रयत्न करने पर भी अणुदत्त उनका प्रतिरोध करने में सफल नहीं हुए और क्रमशः पीछे हटते हुए वे त्रिवेणी तक पहुँच गए। प्रतिष्ठान पहुँचकर सम्राट् ने ब्रह्मावर्त्त के द्वितीय युद्ध में

जल मँगाने का प्रयत्न करेंगे किंतु जिस दिन जल नहीं मिल सकेगा उसके दूसरे ही दिन दुर्ग को रिक्त कर देना होगा। दुर्ग को रिक्त करने की बात पर सम्राट् किंचित् मुसकुरा पड़े। उपस्थित जनों में से जिन्होंने स्कंदगुप्त को प्रथम हूणयुद्ध में देखा था उन्हें इस मुसकुराहट का तात्पर्य समझकर रोमांच हो आया।

चाँदनी रात में यमुना का वह प्रशस्त रेतीला मैदान दोनों ओर के सैनिकों के रक्त से लाल हो गया। जलवाहक ऊँटों का समूह यमुना तट से दुर्ग की ओर लौटते समय हूणों द्वारा आक्रांत हो गया और बहुत प्रयत्न करने पर भी सम्राट् के सैनिक उनका उद्धार नहीं कर सके। स्वयं युद्ध करके भी सम्राट् से कुछ करते नहीं बना। हूणों का दल दुर्ग तथा यमुनातट के बीच में पंक्तिबद्ध होकर युद्ध कर रहा था। सम्राट् किसी प्रकार भी शत्रु-श्रेणी का भेद नहीं कर सके। थके हुए तथा अल्पाहार के कारण अशक्त सैनिक इस व्यर्थ के युद्ध में हत होने लगे। अंत में निराश होकर सम्राट् दुर्ग के भीतर चले गए। उनके पीछे पीछे स्वयं मिहिरकुल दुर्ग में प्रविष्ट होने की चेष्टा कर रहा था किंतु रामगुप्त के द्वारा बनवाया गया लौह-द्वार अवरुद्ध हो चुका था। सम्राट् की अवशिष्ट सेना निर्विघ्न दुर्ग के भीतर पहुँच गई।

वैशाख कृष्ण प्रतिपदा को वृद्ध सम्राट् ने प्रातःकाल दुर्ग के प्रांगण में अवशिष्ट सेना को एकत्र करके कहा—'जल के अभाव में दुर्ग की रक्षा करना असंभव है, फिर भी प्रतिष्ठान का परित्याग कर पीछे हटने में मेरी सहमति नहीं है क्योंकि प्रतिष्ठान का दुर्ग हाथ से

स्कंदगुप्त के कानों तक भी यह समाचार पहुँचा। किंतु वह दुर्योग प्राचीन गुप्त साम्राज्य की अवनति का था। स्कंदगुप्त के अथक परिश्रम करने पर भी प्रतिष्ठान का उद्धार नहीं हो सका। अवरुद्ध दुर्ग की परिखा पर आधी सेना को छोड़कर मिहिरकुल शेष सेना को लेकर लूटपाट मचाने निकल जाता और वर्षाकाल आते ही वापस लौट आता। इस प्रकार वाराणसी से लेकर कान्यकुब्ज तक गंगा का उत्तरवर्ती प्रदेश जनशून्य हो गया। अंत में दुर्ग के भीतर आहार-सामग्री का संकोच होने लगा। सम्राट् समझ गए कि अब अधिक दिनों तक दुर्ग की रक्षा संभव न होगी।

सम्राट् प्रतिदिन यथासाध्य नागरिकों को नगर से हटाकर कहीं दूर भेजने की व्यवस्था करने लगे। जो स्वस्थ सबल और अस्त्र-संचालन के योग्य थे उन्हें दुर्ग के भीतर लिवा लाते थे। क्रमशः नगर जनशून्य हो गया और ग्रीष्म ऋतु के आरंभ में परित्यक्त नगर पर शत्रुओं की सेना का अधिकार हो गया। लोग कहते थे कि उस वर्ष जैसी भयंकर गरमी पड़ी, वैसी आर्यावर्त्त में अनेक वर्षों से नहीं पड़ी थी। अत्यंत कठिनाई से, अत्यधिक द्रव्य व्यय करके शुष्क तथा पथरीली भूमि पर निर्मित प्रतिष्ठान-दुर्ग के कुओं में अधिक जल नहीं रहता था और ग्रीष्म ऋतु समाप्त होने के पहले ही वे प्रायः सूख जाया करते थे। चंद्रगुप्त द्वितीय ने अत्यधिक व्यय करके गंगा का जल सुलभ करने के निमित्त जो जलप्रणाली बनवाई थी उसे प्रतिष्ठान-युद्ध के आरंभ में ही हूणों ने रुद्ध कर दिया था। पहले ग्रीष्म काल में दुर्ग में नदी का जल ही व्यवहृत होता था किंतु दुर्ग अवरुद्ध होने के पहले तक

जलप्रणाली बंद होने पर संगम से ऊँटों पर जल मँगाया जाता था। कुएँ का जल भी जितना सुलभ था, व्यवहृत होता था। अब केवल कुएँ का ही अवलंब रह गया था। नगर को त्यक्त करने का निश्चय करते समय सम्राट् ने सोचा था कि दुर्ग की रक्षा तो नगर की अपेक्षा थोड़े-से सैनिकों की सहायता से ही हो सकती है इसलिये नगर का परित्याग कर केवल दुर्ग की रक्षा करने से आहार - सामग्री अपेक्षाकृत अधिक दिनों तक चलेगी। वे यह जानते थे कि नगर को छोड़ देने पर जल की कठिनाई होगी, किंतु उनका अनुमान था कि थोड़े-से सैनिक कुएँ के जल से प्राण बचाकर वर्षारंभ तक का समय बिता ले जायँगे और तब तक कहीं न कहीं से सहायता अवश्य पहुँच जायगी। प्रतिष्ठान का पतन कराने के लिये उस वर्ष इतनी अधिक गरमी पड़ेगी कि वैशाख के आरंभ में ही दुर्ग में जल का नितांत अभाव हो जायगा, इसकी उन्होंने स्वप्न में भी आशंका नहीं की थी। वैशाखी पूर्णिमा को प्रातःकाल सम्राट् को ज्ञात हुआ कि दुर्ग के कुओं में केवल दो दिनों के निर्वाह के लिये जल शेष रह गया है। यह दुःसंवाद पाने पर पहले उन्होंने दुर्ग-प्राकार पर जाकर संगम के शुष्क बालुका क्षेत्र पर पड़े हुए शत्रु के शिविर का पर्यवेक्षण किया। दोपहर में साम्राज्य के प्रधान अमात्य तथा सेनापतियों से मंत्रणा करने के उपरांत यह निश्चय हुआ कि तीन दिनों से अधिक दुर्ग की रक्षा कर सकना संभव नहीं है। आधा पेट खाकर अथवा बिलकुल निराहार रहकर साम्राज्य के सैनिक युद्ध कर सकते थे किंतु जल के अभाव में दुर्ग की सेना को शांत रखना कठिन था। विचारोपरांत यह स्थिर हुआ कि रात्रि में सम्राट् स्वयं यमुना का

जल मँगाने का प्रयत्न करेंगे किंतु जिस दिन जल नहीं मिल सकेगा उसके दूसरे ही दिन दुर्ग को रिक्त कर देना होगा। दुर्ग को रिक्त करने की बात पर सम्राट् किंचित् मुसकुरा पड़े। उपस्थित जनों में से जिन्होंने स्कंदगुप्त को प्रथम हूणयुद्ध में देखा था उन्हें इस मुसकुराहट का तात्पर्य समझकर रोमांच हो आया।

चाँदनी रात में यमुना का वह प्रशस्त रेतीला मैदान दोनों ओर के सैनिकों के रक्त से लाल हो गया। जलवाहक ऊँटों का समूह यमुना तट से दुर्ग की ओर लौटते समय हूणों द्वारा आक्रांत हो गया और बहुत प्रयत्न करने पर भी सम्राट् के सैनिक उनका उद्धार नहीं कर सके। स्वयं युद्ध करके भी सम्राट् से कुछ करते नहीं बना। हूणों का दल दुर्ग तथा यमुनातट के बीच में पंक्तिबद्ध होकर युद्ध कर रहा था। सम्राट् किसी प्रकार भी शत्रु-श्रेणी का भेद नहीं कर सके। थके हुए तथा अल्पाहार के कारण अशक्त सैनिक इस व्यर्थ के युद्ध में हत होने लगे। अंत में निराश होकर सम्राट् दुर्ग के भीतर चले गए। उनके पीछे पीछे स्वयं मिहिरकुल दुर्ग में प्रविष्ट होने की चेष्टा कर रहा था किंतु रामगुप्त के द्वारा बनवाया गया लौह-द्वार अवरुद्ध हो चुका था। सम्राट् की अवशिष्ट सेना निर्विघ्न दुर्ग के भीतर पहुँच गई।

वैशाख कृष्ण प्रतिपदा को वृद्ध सम्राट् ने प्रातःकाल दुर्ग के प्रांगण में अवशिष्ट सेना को एकत्र करके कहा—'जल के अभाव में दुर्ग की रक्षा करना असंभव है, फिर भी प्रतिष्ठान का परित्याग कर पीछे हटने में मेरी सहमति नहीं है क्योंकि प्रतिष्ठान का दुर्ग हाथ से

निकल जाने पर, रेवा से लेकर गंगा तक एवं गंगा से लेकर हिमालय तक का समस्त भूखंड अनायास हूणों के अधिकार में चला जायगा, पुण्यक्षेत्र वाराणसी लुट जायगी और पाटलीपुत्र को छोड़कर दूसरा कोई सुरक्षित स्थान नहीं रह जायगा। पचीस वर्ष पूर्व वन्य दुर्ग को घेरे रहनेवाली हूण सेना को भेदकर केवल पाँच सौ सैनिक प्रतिष्ठान तक निकल आए थे, इसलिये पाँच सहस्र सैनिकों के लिये शत्रुश्रेणी को भेदकर चरणाद्रि के दुर्ग तक पहुँच जाना कोई कठिन कार्य नहीं है। किंतु यदि लौटना ही है तो यमुना का गँदला जल पीना पड़ेगा, अन्यथा आर्यावर्त्त के इस विशाल वक्ष पर तुम लोगों का कहीं ठिकाना नहीं रहेगा।'

सेनापति तथा सैनिकों ने नीरव भाव से सम्राट् की सारी बातें सुन लीं। कुओं का शेष जल स्नान तथा पान में समाप्त हो गया। संध्या के पहले दुर्ग का सिंहद्वार उन्मुक्त कर दिया गया। आश्चर्यचकित हूणों ने देखा कि उत्सव के समान वेषभूषा से सज-धजकर मुट्ठी भर सैनिक यमुना के मैदान में प्राणों की आहुति देने आ रहे हैं। धीरे धीरे खुम्माण और मिहिरकुल के नेतृत्व में असंख्य हूण सेना इन पाँच सहस्र सैनिकों से युद्ध करने के लिये आगे बढ़ी। हाथी पर आरूढ़ खुम्माण ने देखा कि शुभ्रकेश, श्वेतवस्त्रधारी वृद्ध सम्राट् स्वर्ण-निर्मित गरुड़ध्वज लिए श्वेत रंग के अश्व पर आरूढ़ होकर तिर्यक् व्यूह के अग्रभाग में धीरे धीरे आगे बढ़ रहे हैं। हूणों की अधिकांश सेना दुर्ग में घुसकर लूट खसोट करने में प्रवृत्त है और केवल थोड़ी सी सेना शत्रु से युद्ध कर रही है। स्कंदगुप्त के रण-

कौशल की कहानी वह बहुत दिनों से सुनता आ रहा था। सैकड़ों हूणों ने ब्रह्मावर्त्त के प्रथम युद्ध का वृत्तांत नाना देशों में प्रचारित किया था। तरुण हूणराज ने समझा कि भय के कारण वृद्ध सम्राट् की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। सामने यमुना बह रही है, उत्तर की ओर अपरिमित शत्रु सेना है, पीछे का सुदृढ़ दुर्ग शत्रुओं के अधिकार में चला गया है, ऐसे रणक्षेत्र में प्राण बचने की आशा भला किसे हो सकती है? क्रमशः हूण सेना मुट्ठी भर विपक्षियों को पीस डालने की चेष्टा करने लगी, किंतु उसने देखा कि सैनिकों की संख्या अत्यल्प होने पर भी उनके द्वारा बद्ध वह तिर्यक् व्यूह वज्र के समान अभेद्य है। व्यूह के पूर्वी कोण पर स्वयं स्कंदगुप्त रण-संचालन कर रहे थे और वह भाग धीरे धीरे यमुना-तट की ओर बढ़ रहा था। मिहिरकुल ने सोचा कि शत्रु सेना स्वेच्छा से जलसमाधि लेने जा रही है। तत्काल उसने हूण सेना की गति परिवर्तित करा दी। नदी का तट छोड़कर हूण लोग शत्रु के व्यूह के दोनों ओर तथा दुर्ग के संमुख आक्रमण करने लगे। व्यूह-बद्ध सैनिक यमुना की धारा की ओर टूट पड़े। सबसे आगे रक्त-रंजित घोड़े पर, रक्त से भीगे वस्त्रों में वृद्ध स्कंदगुप्त थे। यमुना के गर्भ में खड़ी होकर सम्राट् की थोड़ी सेना हूणों का प्रतिरोध करने लगी और दो सहस्र से अधिक सैनिक देखते देखते उस पार चले गए। मिहिरकुल ने यह बिलकुल नहीं समझा था कि शत्रु की सेना अंत में इस प्रकार निकल जायगी। क्रोध से उन्मत्त होकर वह स्वयं अवशिष्ट सेना पर आक्रमण करने लगा। तत्काल म्रियमाण अश्व से कूदकर खड्ग हाथ में लिए स्कंदगुप्त ने हूणराज को ललकारा किंतु उसी समय

दुर्ग-प्राकार पर से चलाया हुआ प्रायः तीन हाथ लंबा एक बाण वृद्ध सम्राट् की दाहिनी आँख को छेदता हुआ मस्तिष्क तक निकल गया। सम्राट् का खड्गयुक्त उठा हुआ दाहिना हाथ बढ़ककर मिहिर-कुल के घोड़े पर बैठा और उसका माथा चकनाचूर हो गया। अश्वच्युत मिहिरकुल तथा सम्राट् का प्राणहीन शरीर एक साथ उस बालुकाराशि पर गिरे। सम्राट् के साथ के सैनिक उनके शव की रक्षा के लिये जब तक एकत्र हों तब तक अवशिष्ट सेना भी उस पार पहुँच गई। मिहिरकुल का उद्धार करने के लिये हूणों की सेना ने प्रचंड वेग से शत्रु पर आक्रमण किया। सम्राट् के स्वामिभक्त सैनिकों ने देखते देखते धराशायी होकर सम्राट् के शव को ढँक लिया। तोरमाण के पुत्र ने प्रतिष्ठान का शेष युद्ध दूर खड़े होकर अपलक नेत्रों से देखा। अंत में सम्राट् की सेना का बचा हुआ एकमात्र सैनिक सम्राट् के हाथों से स्वर्ण-निर्मित गरुड़ध्वज लेकर यमुना की धारा में कूद पड़ा। हूणराज ने हाथ उठाकर उसपर शर-संधान करने का निषेध किया। आर्यावर्त्त के इतिहास में उस योद्धा का नाम सुपरिचित है; वह थे आर्यावर्त्त के परित्राणकर्त्ता यशोधर्मदेव।

प्रातःकाल वृद्ध सज्जन पुष्प-चयन के लिये वन में गए हुए थे। उन्होंने देखा कि मलिन वेशधारी एक योद्धा क्षत - विक्षत अवस्था में एक वृक्ष के नीचे अचेत पड़ा हुआ है। बगल में चौड़े फल का बड़ा-सा भाला रखा है किंतु दाहिने हाथ की मुट्ठी गरुड़ांकित स्वर्णदंड पर कसकर बँधी हुई है। चेतनाहीन होने पर भी उसने स्वर्णदंड को छोड़ा नहीं। जल छिड़ककर वृद्ध ने सैनिक की मूर्छा दूर करने का प्रयत्न

किया किंतु कोई फल नहीं हुआ। तदनंतर धीरे धीरे निष्णात चिकित्सक की भाँति वृद्ध सज्जन ने अस्त्रक्षतों को धोना आरंभ किया। उन्होंने देखा, वक्षस्थल के क्षत से अब तक थोड़ा थोड़ा रक्तस्राव हो रहा है, धो डालने पर भी स्राव थमता नहीं है। तत्काल वन के भीतर जाकर वे कोई औषध ले आए और दाँतों से चर्वण करके उसकी सहायता से रक्तस्राव का शमन किया। पुष्प-चयन स्थगित रहा। 'विमलाकीर्ति' सूत्र भी भूल गया और वे प्रकृत सद्धर्मी आहत सैनिक की परिचर्या में संलग्न रहे।

———

११

आहत सज्जन वृद्ध की सुश्रूषा से धीरे धीरे स्वस्थ हो गए। दोनों व्यक्ति उस छोटी-सी पर्णकुटी में निवास करते और परस्पर सहयोगपूर्वक कालक्षेप किया करते थे। पुनर्जीवन प्राप्त कर वे युवक वृद्ध के प्रति इतने आकृष्ट हो गए थे कि हिंस्र पशुओं से भरे हुए निर्जन अरण्य में उन्हें अकेला छोड़कर उनसे जाते नहीं बनता था। उनसे जहाँ तक हो सकता था, वृद्ध की सेवा करते—कुटी का मार्जन, पुष्प तथा फल का संग्रह, ध्वस्त स्तूप के चतुर्दिक् की स्वच्छता, इत्यादि कार्यों का भार उन्होंने स्वेच्छापूर्वक ग्रहण कर लिया था। वृद्ध सज्जन अवसर के अनुकूल उन्हें प्राचीन बातें बताया करते थे, कभी भगवान तथागत का वृत्तांत, कभी सद्धर्म की व्याख्या, कभी प्राचीन राजाओं की कथा प्रायः नित्य होती रहती थी। वृद्ध का जीवनवृत्त सुनते सुनते युवक की दोनों आँखें छलछला जातीं। शाक्यवंशी तरुण राजकुमार ने किस प्रकार नागरिकों के दुःख से मर्माहत होकर संसार का त्याग किया था, कितनी कठिन तपस्या

करके संबोधि-लाभ किया था, किस प्रकार उनका समस्त जीवन धर्म के प्रचार में व्यतीत हुआ था, इनका वृत्तांत सुनते सुनते हेमंत की लंबी रात कट जाती। स्तूप की एवं वेष्टनी-स्तंभों की अभिलेख-माला को पढ़कर वृद्ध सज्जन स्तूप-निर्माण के इतिवृत्त से कुछ कुछ परिचित हो गए थे। कभी कभी वे लोग आपस में महाराज धनभूति तथा उनकी नगरी के संबंध में भी चर्चा किया करते थे। वृद्ध सज्जन महाराज प्रियदर्शी तथा देवपुत्र कनिष्क इत्यादि सद्धर्म के पृष्ठपोषक राजाओं के संबंध में जो कुछ जानते थे उसे युवक को सुनाया करते थे। अभिधर्म की व्याख्या की अपेक्षा प्राचीन ऐतिहासिक कथाएँ वे युवक अधिक रुचि और मनोयोग सहित सुना करते थे। गुप्तवंश के राज्यकाल में अंतर्विग्रह तथा सहायता के अभाव के कारण सद्धर्म की किस प्रकार अवनति हुई इसका वर्णन करते करते वृद्ध सज्जन आत्मविस्मृत हो जाया करते और युवक भी अत्यंत एकाग्रचित्त होकर यह कथा सुनते रहते। शक साम्राज्य के पतन के पश्चात् किस प्रकार धीरे धीरे सद्धर्म का ह्रास होता गया, इसका जितना ज्ञान उन वृद्ध सज्जन को था, जान पड़ता है उतना उस समय किसी को भी नहीं था। संभवतः उन्होंने आर्यावर्त्त के प्रत्येक नगर का भ्रमण किया था और सर्वत्र से सद्धर्म की अवनति का इतिहास संग्रहीत किया था। सद्धर्म की शाखाओं के भेद, उनमें व्याप्त कलह तथा हीनयान एवं महायान का पारस्परिक द्वंद्व किस विषय में, किस भुक्ति में, किस नगर में, किस समय, किस प्रकार हुआ था यह सब उन्हें एकदम कंठाग्र था। अवसर देखकर तिकड़मी, भीरु,

कापुरुष ब्राह्मणों ने किस प्रकार धीरे धीरे उत्तरापथ के विभिन्न देशों में सिर उठाया था, इससे भी वे पूर्णतः अवगत थे। लिच्छवि-दौहित्र होते हुए भी समुद्रगुप्त ने अप्रकट रूप से सद्धर्म का कितना अनिष्ट किया था इसका बड़ा विशद विवरण उनके पास था। किस प्रकार गुप्त-सम्राटों की सहायता पाकर ब्राह्मण वर्ग उत्तरापथ में पुनः अपना मुँह दिखाने योग्य हुआ था, किस प्रकार ब्राह्मणों के प्रति आंतरिक घृणा होते हुए भी उत्तरापथ के निवासी राजभय के कारण उनके संमुख नतमस्तक हुए थे, आपस की फूट के कारण निःशक्त बौद्ध संघ किस प्रकार ब्राह्मणों की प्रवंचना और विश्वासघात में फँस गया था इसका वर्णन करते करते वृद्ध फूट-फूटकर रोने लगते। अंत में चलकर कुमारगुप्त और स्कंदगुप्त के राज्यकाल में राजबल के कारण बलशाली बना ब्राह्मणवर्ग किस प्रकार अपने को भिक्षुओं तथा श्रमणों का समकक्ष बताने लगा, इसे सुनाते सुनाते वृद्ध की दोनों आँखों से अंगारे बरसने लगते।

बहुत दिनों तक ब्राह्मण-विरोधी बौद्ध का सहवास करने के फलस्वरूप ब्राह्मण-धर्मानुयायी युवक भी ब्राह्मणों के विरोधी हो गए थे। इसी प्रकार बहुत दिनों तक वे लोग हमारे पास निवास करते रहे। एक दिन प्रातःकाल युवक को बोध हुआ कि वृद्ध स्थविर से उनके वियोग का समय आ पहुँचा है और जराजीर्ण देह का परित्याग कर नूतन शरीर की खोज के लिये वे शीघ्र महायात्रा करनेवाले हैं। युवक व्याकुल हो उठे। वह घड़ी आ गई। वृद्ध का अशक्त हृदय बहुत प्रयत्न करने पर भी पर्याप्त परिमाण में श्वास ग्रहण करने में समर्थ

नहीं होता था। धीरे धीरे उनकी क्लांत काया सुषुप्ति की शरण में चली गई। शून्य-हृदय युवक ने शून्य शरीर के पार्श्व में बैठे बैठे महाशून्य की ओर देखते देखते, दिन बिता दिया। शून्यता के भार से ग्रस्त हृदय लिए युवक ने स्थविर का लघुकाय शव भूगर्भ में स्थापित करने के उपरांत धीरे धीरे कुटी का द्वार बंद किया, अर्गला लगाई तथा जिधर पैर उठे उधर चल पड़ा।

इसके पश्चात् बहुत दिनों तक मैंने किसी मनुष्य को नहीं देखा। स्तूप के ध्वंसावशेष लता-गुल्मों से भर गए, एक के पश्चात् दूसरी ग्रीष्म ऋतु की प्रचंड वायु धीरे धीरे जीर्ण कुटिया के तृणादि को उड़ा ले गई, एक के पश्चात् दूसरी वर्षा ऋतु के कारण उसके काष्ठ जीर्ण से जीर्णतर होते गए, वसंत आने पर कुटिया का अवशिष्ट पंजर हरे हरे तृणों तथा लताओं से ढँक गया और पुनः ग्रीष्मकाल आने पर तृण, पत्र, पुष्पादि शुष्क होकर धूलिसात् हो गए। स्तूप के जो स्तंभ अब तक खड़े थे उनपर मनुष्य के हाथों का स्पर्श न होने के कारण चिकनी काई जम गई थी। वृद्ध की समाधि पर एक पीपल का क्षुप उग आया था। बढ़ते बढ़ते वह प्रकांड वृक्ष हो गया। उसके आसपास की भूमि अपेक्षाकृत स्वच्छ थी। ग्रीष्मकाल में दोपहर को भाँति भाँति के वन्य पशु आकर वहाँ विश्राम करते और संध्या होते ही पुनः घनघोर वन के भीतर चले जाते। इस अश्वत्थ वृक्ष की आकार-वृद्धि के साथ साथ एक और प्रक्रिया घटित हो रही थी जिससे हम लोगों को क्षति पहुँच रही थी। इसकी शाखा-प्रशाखाओं के भार से दबकर यत्र तत्र खड़े प्राचीन वेष्टनी के स्तंभ क्रमशः गिरते

बिताई। रात्रिवेला में जल की खोज में निकले हुए वन्य पशु अग्नि के भय से वृक्ष के नीचे नहीं आए। प्रातःकाल हाथी को सज्जित कर पिता-पुत्र ने उस स्थान का परित्याग किया। इसके पूर्व प्रातःकाल हाथी जो काष्ठ ले आया था वे भी अग्निकुंडों के चारो ओर स्तूपाकार स्थापित कर दिए गए थे। चारो अग्निकुंड सम भाव से जल रहे थे और उनमें से उठता हुआ धुआँ बहुत दूर तक दिखाई देता था। वहाँ से चलते समय पिता-पुत्र में वार्तालाप हो रहा था कि यह अग्नि सायंकाल तक जलती रहेगी, गीले काष्ठ के जलने पर धुएँ का जो विशाल स्तंभ उठेगा वह बहुत दूर से दिखाई देगा और उसी को लक्ष्य कर नगर तथा शिविर के लोग यहाँ तक पहुँचेंगे।

अग्नि के चारो कुंड दो प्रहर रात्रि बीतने तक प्रज्वलित रहे। प्रातःकाल भी अंगारों से ढेर का ढेर धुआँ निकलकर आकाश में पुंजीभूत हो रहा था। दिन का प्रथम प्रहर बीतने पर धुएँ को लक्ष्य करते हुए एक के बाद एक करके अनेक हाथी बहुत से मनुष्यों को अश्वत्थ-वृक्ष तक पहुँचाने लगे। कुछ लोग व्याघ्र का चर्म पृथक् कर तत्काल हाथी पर चढ़कर वापस चले गए। किंतु शेष सब लोग वृक्ष की शाखाओं और पत्तों की सहायता से अश्वत्थ वृक्ष के नीचे अग्नि द्वारा परिष्कृत स्थान पर पर्णकुटी बनाने में जुट गए। कुछ लोग चतुर्दिक् फैली हुई वेत्रलताओं को हटाने लगे। स्वर्णवर्ण उष्णीष-धारी एक युवक, जो संभवतः कोई उच्चपदस्थ कर्मचारी था, अन्य लोगों को निर्देश दे रहा था। संध्या के पूर्व उस वृक्ष के नीचे की लगभग सौ हाथ भूमि स्वच्छ हो गई। प्रति दिन प्रातःकाल से लेकर सायंकाल

हाथियों की, सम भाव से उठने गिरने वाले पैरों की चाँप थी। आहट पाकर व्याघ्र उठ खड़ा हुआ। उसमें वेगपूर्वक दौड़ने की क्षमता नहीं थी। मैंने अनुमान किया कि कोई उसे बहुत देर से और बहुत दूर से खदेड़ता हुआ यहाँ तक ले आया है। बड़े कष्ट से वह पास के वेत्रकुंज में घुसा और उसके घुसते ही अरण्य में से लौह-कवच-मंडित एक महाकाय हाथी प्रकट हुआ। हाथी के स्कंधदेश पर हस्तिपक तथा पृष्ठदेश पर सैनिक वेश में एक वृद्ध तथा एक बालक आरूढ़ थे। अपनी प्राणशक्ति के द्वारा व्याघ्र के अवस्थान से अवगत होकर लौह-मंडित हाथी वेत्रवन के संमुख जाकर खड़ा हो गया। वेत्रलता की एक फुनगी धीरे से कंपित हुई और तत्काल बालक द्वारा तानकर मारा गया वाण व्याघ्र के कंठ में आमूल विंध गया। अपनी दहाड़ से समस्त वनभूमि को प्रकंपित करता हुआ व्याघ्र एक छलाँग में वेत्रकुंज का उल्लंघन करके अश्वत्थ वृक्ष के नीचे आ गिरा और तत्काल मर गया। हस्तिपक ने हाथी को बैठने का संकेत किया, किंतु वेत्रलताओं से आच्छादित वेष्टनी के निकले हुए पाषाण-खंडों के कारण हाथी वहाँ न बैठकर कुछ दूर हटकर बैठा। वृद्ध और बालक हाथी से उतरकर मृत व्याघ्र के पास गए। उल्लसित बालक ने मृत व्याघ्र को हाथी के पास लाने का उपक्रम किया किंतु वृद्ध ने मना कर दिया। तब आनंदमग्न बालक वहीं मृत व्याघ्र से खेलने लगा। अपने जीवन में उसने यह पहला व्याघ्र मारा था। उसने देखा कि वाण व्याघ्र के कंठ में आमूल प्रविष्ट होकर हृत्पिंड तक घुस गया है। वृद्ध इस बीच पीछे जाकर वेत्राच्छादित भूमि पर हाथी के न बैठने का

कारण जानने का प्रयत्न कर रहे थे। वेत्रलताओं के नीचे प्राचीन स्तूप-वेष्टनी के स्तंभ छिपे थे। भग्न पाषाणों के सूचीवत् तीक्ष्ण अग्रभाग बैठते समय हाथी के पेट में गड़ रहे थे जिसके कारण वह उस स्थान पर नहीं बैठा था। उन्होंने अपने भाले के दंड से वेत्रलताओं को हटाकर पाषाण-खंडों को देखा। उनका मुख गंभीर हो गया। वे भाला हाथ में लिए चित्रवत् उस वेत्रकुंज में खड़े रहे। हर्षोत्फुल्ल बालक ऊँचे स्वर से पिता को पुकार रहा था किंतु पुकार वृद्ध के कानों तक पहुँचती नहीं थी। बालक खीझकर वृक्ष के नीचे से दौड़कर वेत्रकुंज की ओर गया, पिता का हाथ पकड़कर खींचा, किंतु उनका भाव देखकर हाथ छोड़ धीरे धीरे वृक्ष के नीचे वापस लौट गया। इसी प्रकार दिन बीता; बालक व्याघ्र को शीघ्र घर ले जाना चाहता था। हाथी भी भारी भरकम लौह-कवच पहने पहने अब आकुल हो चला था। दिन का प्रकाश समाप्त होने पर वृद्ध की चिंता कुछ कम हुई। वेत्रकुंज से अश्वत्थ वृक्ष के नीचे लौटकर वृद्ध ने हस्तिपक को हाथी का कवच खोल देने तथा उसकी पीठ पर बँधा हुआ आस्तरण खोलकर वृक्ष के नीचे बिछाने की आज्ञा दी। हस्तिपक विस्मित हुआ किंतु नीरव भाव से उसने आदेश का पालन किया। वृक्ष के नीचे रूक्ष आस्तरण पर पिता और पुत्र बैठ गए। हस्तिपक हाथी लेकर जल की खोज में एक ओर निकल गया। उसके लौटने पर सब लोग वन से शुष्क काष्ठ ले आए और वृक्ष के चतुर्दिक् चार काष्ठ-स्तूप स्थापित करके उनमें अग्नि संयोग कर दिया। तदनंतर वे विश्राम का आयोजन करने लगे। सामने हाथी तथा चतुर्दिक् अग्नि से रक्षित होकर तीनों प्राणियों ने रात

बिताई। रात्रिवेला में जल की खोज में निकले हुए वन्य पशु अग्नि के भय से वृक्ष के नीचे नहीं आए। प्रातःकाल हाथी को सज्जित कर पिता-पुत्र ने उस स्थान का परित्याग किया। इसके पूर्व प्रातःकाल हाथी जो काष्ठ ले आया था वे भी अग्निकुंडों के चारो ओर स्तूपाकार स्थापित कर दिए गए थे। चारो अग्निकुंड सम भाव से जल रहे थे और उनमें से उठता हुआ धुआँ बहुत दूर तक दिखाई देता था। वहाँ से चलते समय पिता-पुत्र में वार्तालाप हो रहा था कि यह अग्नि सायंकाल तक जलती रहेगी, गीले काष्ठ के जलने पर धुएँ का जो विशाल स्तंभ उठेगा वह बहुत दूर से दिखाई देगा और उसी को लक्ष्य कर नगर तथा शिविर के लोग यहाँ तक पहुँचेंगे।

अग्नि के चारो कुंड दो प्रहर रात्रि बीतने तक प्रज्वलित रहे। प्रातःकाल भी अंगारों से ढेर का ढेर धुआँ निकलकर आकाश में पुंजीभूत हो रहा था। दिन का प्रथम प्रहर बीतने पर धुएँ को लक्ष्य करते हुए एक के बाद एक करके अनेक हाथी बहुत से मनुष्यों को अश्वत्थ-वृक्ष तक पहुँचाने लगे। कुछ लोग व्याघ्र का चर्म पृथक् कर तत्काल हाथी पर चढ़कर वापस चले गए। किंतु शेष सब लोग वृक्ष की शाखाओं और पत्तों की सहायता से अश्वत्थ वृक्ष के नीचे अग्नि द्वारा परिष्कृत स्थान पर पर्णकुटी बनाने में जुट गए। कुछ लोग चतुर्दिक् फैली हुई वेत्रलताओं को हटाने लगे। स्वर्णवर्ण उष्णीष-धारी एक युवक, जो संभवतः कोई उच्चपदस्थ कर्मचारी था, अन्य लोगों को निर्देश दे रहा था। संध्या के पूर्व उस वृक्ष के नीचे की लगभग सौ हाथ भूमि स्वच्छ हो गई। प्रति दिन प्रातःकाल से लेकर सायंकाल

क्यों मृगया से उदासीन होकर, एकमात्र पुत्र के आह्वान के प्रति बधिर होकर वृद्ध सम्राट् कुश-कंटकों से क्षत-विक्षत होने पर भी वेत्रवन में चित्रवत् खड़े थे। उसी स्तंभ के पास वृद्ध स्थविर की समाधि थी। पर्णकुटी की पल्लवित शाखाओं का आधार पाकर वेत्रलताओं ने वहाँ एक कुंज बना लिया था, इसे वृद्ध महाराज देखते ही समझ गए थे तथा पुनर्जीवन प्रदान करनेवाले वृद्ध स्थविर की स्मृति ने सहसा उनके मन पर छाकर उन्हें पाषाणवत् निश्चल कर दिया था। वृद्ध स्थविर की मृत्यु के उपरांत लौटकर नगर में जाने पर उन्हें जीवनदाता स्थविर की बातें धीरे धीरे विस्मृत हो गई थीं। बहुत दिनों के पश्चात्, अपने जीवन की अंतिम सीमा तक पहुँचकर, रक्तवर्ण प्रस्तर-स्तंभों को देखकर सम्राट् के मन में उस परम उपकारी बौद्ध स्थविर की स्मृति पुनः जाग्रत हो गई थी। समझ गया कि गुरुदेव के आदेशानुसार वृद्ध सम्राट् स्तूप का संस्कार करा रहे हैं, सद्धर्म के प्रति श्रद्धान्वित होकर वे इस कार्य में नहीं प्रवृत्त हुए हैं, केवल कृतज्ञतावश ये आसमुद्रपृथ्वी के अधीश्वर विपुल द्रव्य व्यय करके महाराज धनभूति के स्तूप का पुनरुद्धार करा रहे हैं। सुना कि समुद्र-गुप्त के विशाल साम्राज्य के बाहर वाले देशों को भी यशोधर्म ने अपने बाहुबल से जीता है तथा हिमाच्छादित उत्तरी पर्वत एवं तत्त उत्तरमरु के खस तथा हूण भी यशोधर्म के भय से काँपते रहते हैं। यह भी सुना कि आर्यावर्त्त से हूणों का आधिपत्य लुप्त हो चुका है तथा अशेष रक्तपात द्वारा अर्जित तोरमाण का साम्राज्य तोरमाण के साथ ही अंतर्हित हो गया है। लौहित्य तटवर्त्ती प्राग्ज्योतिष के रक्तपिपासु ब्राह्मण

उत्तर में प्रतिष्ठान तथा पश्चिम में विदिशा तक जीर्णोद्धार किया गया।

इसके अनंतर एक दिन पूर्वोक्त वृद्ध आए। मैंने सुना कि सब लोग उन्हें 'महाराज' कहकर संबोधित कर रहे हैं। यह भी सुना कि उनका नाम यशोधर्मदेव है तथा वे गांधार एवं कीर से लेकर समतट तथा प्राग्ज्योतिष तक के अधीश्वर हैं। उन्होंने सामान्य सैनिक पद से सौभाग्यवश उन्नति करते करते राजपद प्राप्त किया है, प्राचीन राजवंश लुप्त हो गए हैं, कान्यकुब्ज में गुप्तवंश का कोई व्यक्ति नहीं रह गया है तथा अनुगांग एवं मगध के गुप्तवंशी राजा उनके कृपा-कांक्षी हैं। वृद्ध ने आकर एक एक करके तोरणों के समस्त स्तंभों का निरीक्षण करने के उपरांत श्रमिकों को मिट्टी खोदने की आज्ञा दी। कई शताब्दियों के अनंतर परिक्रमण-पथ पर सूर्य का आलोक पड़ा। धीरे धीरे अर्द्धवृत्ताकार स्तूप भी दिखाई पड़ने लगा। बड़े कौशल और यत्न से श्रमिकों ने पाषाण पर पाषाण जुड़ाकर उस मंडलाकृति का उद्धार किया। मैं उत्सुकतापूर्वक देख रहा था; सोचता था कि ये लोग गर्भगृह के अन्वेषण में भी प्रवृत्त होंगे और तथागत के भस्मा-वशेष का भी पुनरुद्धार होगा किंतु जान पड़ता है, उस समय लोग उसके संबंध में सब कुछ भूल चुके थे। बहुत दिनों बाद तक विदेशी यात्रियों से पाखंडी श्रमण लोग कहा करते थे—'महाराज कनिष्क के प्राणत्याग के दिन आकर इंद्रदेव तथागत के भस्मावशेष को तुषितलोक में उठा ले गए और ब्रह्मा उसके स्थान पर छत्र स्थापित कर गए हैं।' धर्मप्राण सरल-स्वभाव विदेशी लोग श्रमणों की इस कपोलकल्पित

कहानी को सत्य समझकर आस्थापूर्वक लिपिबद्ध कर गए हैं। मैंने सुना है कि तुम लोग भी इस कहानी के आधार पर ग्रंथों की रचना करते हो। मैंने जो सोचा था वह नहीं हुआ; छोटे-बड़े प्रस्तर-खंडों की सहायता से ही स्तूप का पुनर्निर्माण किया गया। स्तूप के ऊपरी भाग में सभी प्रकार के पाषाणों का, यहाँ तक कि खंडित मूर्तियों का भी, व्यवहार किया गया। कनिष्क-निर्मित राजमार्ग पर बिछाई गई शिलाओं के दो-चार टुकड़े भी उसमें थे। इसीलिये स्तूप के अर्द्धवर्तुल पिंड में तुम लोगों को कनिष्क के नामांकित प्रस्तर मिले थे। स्तूप का संस्कार अवश्य हुआ, किंतु वेष्टनी तथा तोरणों का पुनरुद्धार नहीं हो सका। स्तूप के चारो तोरणों के संमुख हरिद्राभ पाषाणों के चार मंदिरों का निर्माण हुआ। क्रमशः नगरों से नाना प्रकार की मूर्तियाँ लोग लाते गए और स्तूप के आसपास छोटे-छोटे मंदिरों का समूह स्थापित होता गया।

श्रमिक लोग बहुत दिनों तक संस्कार और निर्माण के कार्यों में व्यस्त रहे। उनके द्वारा मुझे बहुतेरी बातें ज्ञात हुईं। यशोधर्म एक अत्यंत सामान्य पदाति सैनिक थे और अल्पवय में ही स्कंदगुप्त की सेना में प्रविष्ट हुए थे। युवावस्था में वृद्ध सम्राट् के साथ रहते हुए दीर्घकालव्यापी हूणयुद्ध में इन्होंने अभूतपूर्व साहस और शौर्य का परिचय दिया था। सैकड़ों युद्धों में सम्राट् की प्राणरक्षा करने के अनंतर जब अंत में प्रतिष्ठान के महायुद्ध में सम्राट् हत हो गए तब वे जंगलों में निकल गए थे। तभी मुझे ज्ञात हुआ कि ये वृद्ध कौन हैं और वेत्रकुंज के पाषाणों ने क्यों उन्हें इस प्रकार आकृष्ट किया था,

क्यों मृगया से उदासीन होकर, एकमात्र पुत्र के आह्वान के प्रति बधिर होकर वृद्ध सम्राट् कुश-कंटकों से क्षत-विक्षत होने पर भी वेत्रवन में चित्रवत् खड़े थे। उसी स्तंभ के पास वृद्ध स्थविर की समाधि थी। पर्णकुटी की पल्लवित शाखाओं का आधार पाकर वेत्रलताओं ने वहाँ एक कुंज बना लिया था, इसे वृद्ध महाराज देखते ही समझ गए थे तथा पुनर्जीवन प्रदान करनेवाले वृद्ध स्थविर की स्मृति ने सहसा उनके मन पर छाकर उन्हें पाषाणवत् निश्चल कर दिया था। वृद्ध स्थविर की मृत्यु के उपरांत लौटकर नगर में जाने पर उन्हें जीवनदाता स्थविर की बातें धीरे धीरे विस्मृत हो गई थीं। बहुत दिनों के पश्चात्, अपने जीवन की अंतिम सीमा तक पहुँचकर, रक्तवर्ण प्रस्तर-स्तंभों को देखकर सम्राट् के मन में उस परम उपकारी बौद्ध स्थविर की स्मृति पुनः जाग्रत हो गई थी। समझ गया कि गुरुदेव के आदेशानुसार वृद्ध सम्राट् स्तूप का संस्कार करा रहे हैं, सद्धर्म के प्रति श्रद्धान्वित होकर वे इस कार्य में नहीं प्रवृत्त हुए हैं, केवल कृतज्ञतावश ये आसमुद्रपृथ्वी के अधीश्वर विपुल द्रव्य व्यय करके महाराज धनभूति के स्तूप का पुनरुद्धार करा रहे हैं। सुना कि समुद्रगुप्त के विशाल साम्राज्य के बाहर वाले देशों को भी यशोधर्म ने अपने बाहुबल से जीता है तथा हिमाच्छादित उत्तरी पर्वत एवं तप्त उत्तरमरु के खस तथा हूण भी यशोधर्म के भय से काँपते रहते हैं। यह भी सुना कि आर्यावर्त्त से हूणों का आधिपत्य लुप्त हो चुका है तथा अशेष रक्तपात द्वारा अर्जित तोरमाण का साम्राज्य तोरमाण के साथ ही अंतर्हित हो गया है। लौहित्य तटवर्त्ती प्राग्ज्योतिष के रक्तपिपासु ब्राह्मण

यशोधर्म के नाम से थरथराते रहते हैं तथा गुप्त रूप से अँधेरी रात में पशुहत्या करके अपनी रक्तपिपासा शांत करते हैं। मैंने यह भी सुना कि पूर्वी समुद्र के तट पर हरे-भरे ताड़वन से वेष्टित महेंद्रगिरि के शिखर पर यशोधर्म का विजयस्तंभ स्थापित हो चुका है, तुषारमंडित हिमालय से लेकर पश्चिमी समुद्र के उपकूल तक का समस्त भूमंडल यशोधर्म का आधिपत्य स्वीकार करता है, एवं समुद्रगुप्त के उपरांत आर्यावर्त्त में इतने विशाल साम्राज्य का कोई दूसरा अधीश्वर नहीं हुआ।

१२

उसके दूसरे ही दिन से मनुष्य जाति तथा सद्धर्म के प्रति मुझे घृणा हो गई। तुमसे पहले ही कह चुका हूँ कि मनुष्य जाति के प्रति मेरा कितना अनुराग है और उसके संपर्क में मैं कितना प्रफुल्ल रहा करता हूँ। मैं सदा से मनुष्य के ही हाथों संचालित होता रहा हूँ। जीवन में जो कुछ नवीनता देखी है वह मनुष्यों की कृपा के कारण। अपने चलशक्ति-विहीन जीवन में अवस्थान तथा परिस्थिति संबंधी जो कुछ परिवर्त्तन घटित होते देखा है वह सब भी मनुष्यों के ही कारण। मनुष्य के प्रति अचल पाषाण के आकर्षण का यही उद्देश्य है और यही हम लोगों की मनुष्य-दर्शन की लालसा का मूलभूत कारण है। मनुष्य का दर्शन करने के लिये हम लोगों ने वर्ष के बाद वर्ष बड़ी उत्सुकता के साथ व्यतीत किया है। मनुष्य के साहचर्य के स्थान पर निविड़ वन से वेष्ठित होकर जब असंख्य संवत्सरों का अतिक्रमण करता जा रहा था उस समय भी जीवन की एकमात्र लालसा, एकमात्र उद्देश्य मनुष्य-समाज के संपर्क-लाभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। जीवन में जिस

दिन सर्वप्रथम मनुष्य का संपर्क हुआ उस दिन उसकी नगरी के उप-कंठ में आकर जैसा सौंदर्य देखा था वैसा सौंदर्य तुमसे अनेक बार कह चुका हूँ कि न अब तक पुनः देखा और न भविष्य में देखने की आशा है। किंतु एक दिन उसी मनुष्य के प्रति, उसी मनुष्य-संपर्क के प्रति, ऐसी उत्कट घृणा हो गई कि वह अभी तक शांत नहीं हो सकी। मनुष्य को उसकी सृष्टि के आरंभ से देख रहा हूँ, उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखा है, घृणा की दृष्टि से देखा है, किंतु यशोधर्मदेव की स्तूप-पूजा के दिन मनुष्य का जो रूप देखा वह फिर कभी हमलोगों को दृष्टिगोचर नहीं हुआ। मनुष्य का प्रारंभ देखा है, जब वह बल - वीर्य - संपन्न, संपुष्ट-शरीर, सरलचित्त था और उस समय भी देखा जब वह बलहीन, क्षीण, क्षुद्रकाय, क्षुद्रचेता और कुटिलमति हो गया था। उन लोगों को देखकर मन में स्वतः घृणा का उद्रेक होता था। अधःपतन के निम्नतम सोपान पर खड़े आर्यावर्त्तवासी एक क्षण के लिये भी आत्म-रक्षा की चिंता नहीं करते थे। उस समय जगत् की कोई शक्ति उन्हें उत्साहित और उत्तेजित करने में असमर्थ थी। उनके लिये बौद्धधर्म तथा ब्राह्मणधर्म में कोई भेद नहीं रह गया था और अपनी उन्नति का प्रयत्न करना उन्होंने बहुत दिनों से बंद कर दिया था। स्वार्थसाधन का ही नाम धर्म हो गया था, भोग-विलास और कामाचार को ही संघ समझा जाता था तथा विश्वासघात और बुद्ध अभिन्न हो गए थे। ब्राह्मणों के पूजापाठ का तात्पर्य था प्रतारणा और अर्थशोषण, अध्ययन का तात्पर्य था स्वार्थसाधन और दान का अर्थ था परस्वापहरण। बुद्धिमान ब्राह्मणों ने अपनी वृत्ति में धीरे धीरे परिवर्त्तन करके चुपचाप,

अप्रकट रूप से, अपना प्राचीन तथा सहज धर्म सुदृढ़ नींव के ऊपर स्थापित किया था। उन्हीं के वंशधरों ने अपने स्वार्थसाधन के लिये उस सुदृढ़ नींव को नष्ट करके अनागत विनाश का पथ प्रशस्त कर दिया। भविष्य की ओर देखो; तुम देखोगे कि यह स्थिति स्थायी नहीं है; धीरे धीरे झूठ की गाँठ खुलती जा रही है और सत्य उद्‌घाटित होता जा रहा है। आर्यावर्त्त से सद्धर्म का बहुत दूर स्थानांतरण अवश्य हो गया है, किंतु इसी के साथ देखो कि आर्यावर्त्त की दशा भी कैसी हो गई है। अनंत काल से सत्य सत्य ही रहा है, मिथ्या का आवरण दीर्घ काल तक उसे कभी छिपाकर नहीं रख सका। पीछे दूर तक देखने की चेष्टा करो, सद्धर्म की छाया मात्र अवशिष्ट है, शाक्य राजकुमार के सरल विश्वास का धर्म यथास्थित नहीं रह गया है। जो कुछ है उसे क्या सद्धर्म कहोगे? तथागत के महापरिनिर्वाण के उपरांत जो महास्थविर उनका संदेश विश्व को देने निकले थे वे लौटकर सद्धर्म के नाम पर प्रचलित इस छाया को क्या पहचान पाएँगे? अपने मन के भीतर टटोलकर देखो, आर्यावर्त्त जिसे सद्धर्म कहता था वह अब जीवित नहीं है, उसके स्थान पर जो कुछ है उसे तुम लोग पहचान नहीं सकोगे। स्वदेश और विदेश में स्वेच्छाचारियों ने अपनी अदम्य कामवासना तथा दुर्निवार लालसा के वशीभूत होकर सद्धर्म में जिन जिन वस्तुओं का आरोप किया है उनके कारण सद्धर्म में सत्य के स्थान पर असत्य ने जड़ जमा लिया है। जो वस्तु सत्य है वह सरल और सहज बोधगम्य होती है, एक सत्य के सहारे दूसरे सत्य की प्राप्ति सरलता से,

स्थायी रूप से होती है। किंतु एक बार भी यदि असत्य का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है तो भविष्य के लिये असत्य के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं रह जाता। किसी एक झूठी बात को प्रमाणित करने के लिये जैसे सैकड़ों झूठी बातों की अवतारणा करनी पड़ती है, वैसे ही सत्य के साथ असत्य का मेल होने पर असत्य का ही बोलबाला हो जाता है और सत्य बहुत पीछे छूट जाता है। आँखें खोलकर देखो कि क्या से क्या हो गया है। उत्तर मरुप्रदेश के हिमाच्छादित समुद्रतट वासी असभ्य बर्बर भी सद्धर्म के आश्रय में आ गए हैं। किंतु उनका सद्धर्म है कैसा ? उनके श्रमण दिन में मत्स्य की आराधना करते तथा रात्रि में मदिरापान से उन्मत्त होकर कालक्षेप करते हैं। और आगे चलो, मत्स्यभोजी ठिंगने मरुवासी भी सद्धर्म के अनुयायी हो गए हैं। उनमें भी श्रमण हैं जो मत्स्य की आकांक्षा से समुद्र की पूजा करते हैं और शताब्दियों से जिन्होंने धर्म, बुद्ध अथवा संघ का नाम तक नहीं सुना है। उत्तर-कुरु के प्रशस्त मरुप्रदेश में जो सुसभ्य जाति निवास करती है वह भी बौद्ध है। उसके भिक्षु और श्रमण काषायधारी हैं, उनके यहाँ सैकड़ों विहार और संघाराम हैं, किंतु पता लगाओ कि उनमें से कितनों ने गौतम बुद्ध का नाम सुना है। उनके भिक्षुओं ने विवाह करके संघाराम में गृहस्थाश्रम स्थापित कर लिया है, कृषिकर्म तथा वाणिज्य में वे कोई दोष नहीं मानते। आर्यावर्त्त में आओ; देखते हो, यहाँ के विभिन्न प्रांतों में क्या हो रहा है ? सद्धर्म है, बुद्ध हैं, किंतु सारवस्तु का अभाव है। एक बुद्ध के स्थान पर चौबीस सहस्र बुद्धों का आविर्भाव हो गया है—

ध्यानी बुद्ध, मानसी बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों से परिवेष्ठित अंतःसारशून्य गौतम बुद्ध का नाम अब तक प्रचलित है। सैकड़ों शक्तियों से परिवृत बोधिसत्त्वगण सर्वदा यही कहते हैं कि इंद्रियसुख का पूरा पूरा उपभोग किए बिना निर्वाण-प्राप्ति का कोई उपाय नहीं है। धन-संपन्न संघारामों में सुरा के सहित शक्ति की उपासना को छोड़कर दूसरी कोई चर्चा नहीं सुनोगे। जिस सुवर्णभूमि से सद्धर्म के द्वारा ब्राह्मणधर्म मार भगाया गया था उसी सुवर्णभूमि में सद्धर्म किस दशा को पहुँच गया है, इसे भली भाँति देखो। सुवर्णधान्य से आच्छादित बुद्ध की काष्ठमूर्ति के समक्ष प्रति दिन वसा-पक्क सामग्री का भोग लगाना ही वहाँ के बौद्धों का एक-मात्र कर्त्तव्य रह गया है। प्रव्रज्या का नाम वहाँ अभी तक वर्तमान है अवश्य, किंतु एकमात्र नाम में ही वह पर्यवसित है। बच्चे प्रव्रज्या ग्रहण करके प्रातःकाल चीवर धारण कर लेते हैं और सायंकाल उसे उतार फेंकते हैं। इसका कारण जानते हो क्या है? सद्धर्म की अवनति का जिस समय सूत्रपात हुआ था उस समय आर्यावर्त्त के समस्त भिक्षुसंघों ने उसकी उन्नति के लिये कौन सा उपाय ढूँढ निकाला था, इसे जानते हो? उन्होंने देखा था कि राजाश्रय पाकर ब्राह्मणों ने अपने धर्म में सामयिक परिवर्तन करना आरंभ कर दिया है। उन्हीं का अनुकरण करके भिक्षुओं ने तथागत के सहज धर्म में भी परिवर्त्तन करना आरंभ किया। इसके कारण शाक्य राजकुमार द्वारा प्रवर्त्तित सीधे-सादे धर्म का सहज माधुर्य नष्ट हो गया। जिस आकर्षण से मुग्ध होकर जन-समाज ब्राह्मणधर्म के बाह्याडंबर और शब्दजाल का परित्याग करके शांतिलाभ की कामना से तथागत का आश्रय ग्रहण करता था वह

आकर्षण लुप्त हो गया था। इस कारण आकर्षण के लिये नवीन उपाय का अवलंबन आवश्यक हो गया तथा सद्धर्म में सरल विश्वास के स्थान पर बाह्याडंबर ही प्रमुख हो रहा। ब्राह्मणवर्ग बाह्याडंबरों का बहुत दिनों से अभ्यासी था और जन-समाज भी उसके आडंबरों से अवगत था। अंतःसारशून्य बाह्याडंबरों में ब्राह्मणों ने बौद्ध संघों को परास्त कर दिया। बौद्ध संघ विचलित हो गया और उसकी अवनति होने लगी। अवनति की पराकाष्ठा पर पहुँचकर शांतिस्वरूप महान् जिन का शांतिपूर्ण धर्म निरीह आर्यावर्तवासियों के रक्त की धारा में बहकर यहाँ से दूर चला गया। सद्धर्म के निरीह अनुयायियों का रक्तस्रोत दक्षिण की प्रत्येक उपत्यका से सद्धर्म का नाम बहा ले गया। जो लोग बचे हुए हैं वे धर्म की परिधि के भीतर रहने के कारण अनंत काल तक दुर्जेय बने रहेंगे। परंतु जो बात कभी हो नहीं सकती, वह उस समय भी नहीं हुई। प्रसरणशीलता से वंचित, संकुचित परिसर में आबद्ध, ब्राह्मणधर्म का दुर्ग पराभूत हो चुका है—उसके संस्कार नष्ट हो गए हैं, केवल नाम शेष रह गया है; उसका सार अपहृत हो चुका है, किंतु छाया अभी तक वर्तमान है। मैं भूत, भविष्यत् और वर्तमान को स्पष्ट देख रहा हूँ; जो कुछ अवशिष्ट है वह भी नहीं रह जायगा—क्यों ? क्योंकि जगत् में असत्य के लिये कोई स्थान नहीं है।

जो कुछ देखा उसे पहले कभी नहीं देखा था। उसे केवल यथेच्छाचार और उच्छृंखलता से ही अभिहित किया जा सकता था। उन्हें देखने पर प्रतीत होता था कि जो लोग इस अवस्था तक पहुँच गए हैं उनका या तो शीघ्र ही परिवर्त्तन होगा, या विनाश। दशपुर से सेना

आई हुई है। उनके अधिनायक, अस्त्रशस्त्र, अनुचर, पार्श्वचर, इत्यादि सभी उपस्थित हैं किंतु उनमें व्यवस्था और सुश्रृंखला का अभाव है। सेना के पहले हजारों पटमंडप आ चुके थे किंतु व्यवस्था के अभाव में शिविर स्थापित करने की आज्ञा नहीं दी गई फलतः शिविर नहीं बना। दिन डूबने पर थके-माँदे सैनिकों ने जहाँ ठिकाना देखा वहीं के लोगों को बाहर भगाकर अपना अड्डा जमाया। निराश्रय भिक्षुओं और श्रमणों ने बाहर रात्रि व्यतीत की किंतु सैनिकों के प्रति विशेष अप्रसन्न होने पर भी प्रकाश्य रूप से उनके विरुद्ध कुछ कहने का साहस नहीं किया। प्रातःकाल जब पटमंडपों की स्थापना हुई और सैनिक लोग शिविर के भीतर चले गए, तब जाकर कुटियों और घरों के निवासी अपने अपने स्थान पर लौटे।

प्राचीन स्तूप-वेष्टनी के बाहर कतिपय पण्यशालाएँ खुल गई थीं जिनमें भोजन-सामग्री, वस्त्रादि तथा मदिरा बिकती थी। पण्यशालाओं के चतुर्दिक् सेना की परिचारिकाओं के कुटीर बने थे। मदिरा के घट एक के पश्चात् दूसरे इन कुटीरों की ओर जा रहे थे किंतु विक्रेताओं को मूल्य सब लोगों से नहीं मिलता था। प्राचीन पाषाणों से निर्मित नवीन संघाराम के भिक्षुओं ने काषाय वस्त्रों के स्थान पर रक्त-वर्ण परिधान धारण किया था। संघाराम में भी छोटे-बड़े विभिन्न आकार के मिट्टी के कलश लाए जा रहे थे जिनमें भिक्षु और श्रमण लोग अपनी साधना के निमित्त आवश्यकतानुसार विविध प्रकार की मदिरा ले आने के लिये अनुचरों को आदेश दे रहे थे। विभिन्न आकार तथा विभिन्न वर्ण के कलशों के मुख पुष्पों अथवा फलों से ढँके

हुए थे—किसी पर कदंब, किसी पर फुल्ल कमल, किसी पर आम्रपल्लव तो किसी पर पके हुए कदली फल थे। रात्रिकाल में मदिरा की विशेष आवश्यकता पड़ती थी। गौरवर्ण शक्तियाँ सद्धर्म के निमित्त समर्पित मदिरा के घट लेकर रात्रि में यथास्थान पहुँचा दिया करती थीं। बुद्ध अथवा बोधिसत्वों का नामोच्चारण मात्र पर्याप्त होता था। प्रायः इसकी आवश्यकता भी नहीं पड़ती थी क्योंकि संघाराम में रहनेवाले अनेक भिक्षु स्वयं बुद्ध अथवा बोधिसत्त्वों के नाम से अपने को अभिहित कर लिया करते थे। रात्रिवेला में संघाराम से नृत्य और गीत के स्वर उठकर प्राचीन पाषाणों के मन में बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों की सिद्धि के प्रति संदेह जाग्रत करते थे। कभी कभी महाशक्तियाँ बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों का आश्रय छोड़कर सैनिकों की शरण में चली जाया करती थीं। उस समय भिक्षुओं तथा सैनिकों में भयंकर कलह उपस्थित होता था। ऐसा नहीं था कि सेना की परिचारिकाएँ भी समय समय पर संघाराम के आश्रय में न आती हों; सद्धर्म की कुछ ऐसी महिमा हो गई थी कि संघाराम में प्रविष्ट होते ही आचार-व्यवहार में परिवर्त्तन करके वे परिचारिकाएँ महाशक्तिरूपा हो जाया करती थीं।

इसी प्रकार बहुत दिन बीते। स्तूप, राजमार्ग तथा मंदिरों का निर्माणकार्य समाप्त होने पर ज्ञात हुआ कि सम्राट् तीर्थयात्रा के लिये आनेवाले हैं और उनके साथ देश देश के बुद्ध, बोधिसत्त्व तथा स्थविर लोग भी आएँगे। उनके लिये आवास बनने लगे। एक दिन बहुत दूर से अनेक वाहन नूतन बुद्धों, नूतन बोधिसत्त्वों तथा शक्ति-स्वरूपा सैकड़ों स्त्रियों को लेकर पहुँच गए। स्तूप के चतुर्दिक् एक छोटा-मोटा

नगर स्थापित हो गया। उसके उपकंठ में सैकड़ों पण्यशालाएँ खुल गईं। नित्य रात्रिवेला में सद्धर्म की साधना के स्वर बहुत दूर से सुनाई पड़ते थे। किंतु आश्चर्य की बात थी कि कभी कोई गृहस्थ नागरिक स्त्री-पुत्रादि के साथ दर्शनार्थ नहीं आता था। एक दिन सम्राट् भी आ पहुँचे। उनके साथ बहुसंख्यक सैनिक थे। सम्राट् के पार्श्वचर कतिपय चीवरधारी भिक्षु भी आए हुए थे। सम्राट् के साथ जो सेना आई थी उसे हूणयुद्ध के लिये शिक्षित किया गया था इसलिये उसमें नियम और व्यवस्था का विशेष अभाव नहीं था। सम्राट् के साथ आए हुए चीवरधारी भिक्षु समागत बुद्धों तथा बोधिसत्त्वों के संपर्क में नहीं आते थे, उनसे हट करके अरण्य में बनी हुई अपनी कुटियों में काल-क्षेप किया करते थे। बुद्ध अथवा बोधिसत्त्व लोग इन्हें विशेष श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखते थे। एक दिन सुनाई पड़ा कि अपने पार्श्वचरों के साथ सम्राट् स्तूप की उपासना के लिये आनेवाले हैं। स्तूप तथा वेष्टनी स्वच्छ की गई। साज-सज्जा में भी कोई त्रुटि नहीं की गई। यह भी ज्ञात हुआ कि उसी दिन नगरवासी भी उपासना के लिये आएँगे। फिर भी उत्सव के प्रति हमलोगों के मन में लेशमात्र आकर्षण नहीं हुआ।

इस उत्सव की अपनी निजी विशेषता थी, किंतु फिर भी हम लोगों को इससे कोई विशेष संतोष नहीं हुआ। जिस दिन सम्राट् स्तूप की अर्चना के निमित्त पधारे उस दिन सूर्योदय के पहले से बुद्धों और बोधिसत्त्वों का दल स्तूप तथा वेष्टनी में आकर जम गया। प्रातःकाल से ही ये लोग अपनी अपनी शक्तियों के साथ भूमि पर रंग-

तिरंगे चक्र बनाकर उनके भीतर सम्राट् के दर्शनों के लिये बैठे हुए थे। सूर्योदय के कुछ पहले से पुत्र-कलत्र के साथ नागरिकों के दल स्तूप के पास एकत्र हो रहे थे। रात्रिवेला से ही सशस्त्र सैनिक पंक्तिबद्ध होकर मार्ग की रक्षा कर रहे थे। नागरिक लोग विधिवत् स्तूप की अर्चना तथा वेष्टनी का परिक्रमण करने के उपरांत बुद्धों और बोधिसत्त्वों की भी अर्चना करते थे। स्तूपार्चन के समय मंत्रोच्चारण के पश्चात् भिक्षु तथा उनके शिष्य नागरिकों से अधिक से अधिक द्रव्य उपार्जित करने का प्रयत्न करते थे। जीवित बुद्ध तथा बोधिसत्त्व लोग पूजित होने के पश्चात् स्वयं दक्षिणा ग्रहण करते थे और उनकी पार्श्ववर्त्ती शक्तियाँ भी उपार्जन का उपाय कर लेती थीं। मेरे पास खड़ी शक्तिस्वरूपिणी एक मधुपाभ महिला अपनी अशेष पिपासा की शांति के निमित्त एक तरुण नागरिक से एक कलश मदिरा के मूल्य के लिये अनुनय कर रही थी। निकटवर्ती सैनिक इसपर बड़ी आपत्ति कर रहा था। चक्र के भीतर बैठे महा-शक्ति के तत्कालीन अधिकारी बोधिसत्त्वप्रवर की सहिष्णुता धीरे धीरे समाप्त हो रही थी और वे इस त्रिमूर्ति की ओर बड़े रोषपूर्ण नेत्रों से देख रहे थे। थोड़ी दूर खड़े कुछ नागरिक और नागरिकाएँ इस दृश्य का आनंद ले रही थीं। कहीं प्रत्येकबुद्ध और शिष्यमंडली के बीच प्राप्त दक्षिणा के विभाजन के संबंध में बड़ा विवाद हो रहा था और कुछ प्रौढ़ नागरिक विवाद-शांति की चेष्टा कर रहे थे। जिन नाग-रिकों के साथ युवती स्त्रियाँ आई थीं वे शीघ्रतापूर्वक अपनी पूजा समाप्त करके वेष्टनी के बाहर निकल जाने का उपक्रम कर रहे थे। कतिपय उच्चपदस्थ सेनाधिकारी राजपुरुष स्तूप की ओर आनेवाले तथा परिक्रमण

के मार्गों की रक्षा कर रहे थे किंतु उनके रहते हुए भी किसी किसी सैनिक को स्थानांतरित करने की आवश्यकता पड़ जाती थी। कहीं पर नागरिकों के प्रति आकृष्ट होकर शक्तियाँ अपने अधिकारी बुद्धों और बोधिसत्त्वों को छोड़कर चली जाने के लिये उद्यत थीं और वे अधीर हुए जा रहे थे परंतु सम्राट् से प्राप्त होनेवाली स्वर्णमुद्रा की आशा में अपने चक्र के बाहर नहीं निकल पाते थे। वेष्टनी के बाहर सम्राट् के पार्श्वचरों के साथ कतिपय काषायधारी नवागत भिक्षु सम्राट् की प्रतीक्षा में खड़े थे। एक शक्ति ने इन्हें मधुपान के लिये आमंत्रित किया किंतु भिक्षुओं ने मधुभांड लेना अस्वीकार कर दिया। शक्ति महोदया बड़ी भद्र और श्लील भाषा में इनका गुणगान करती हुई अपने अधिकारी बोधिसत्त्व के पास गईं किंतु बोधिसत्त्व के आदेश से उनके शिष्य और अनुचर वेष्टनी के बाहर निकलकर भिक्षुओं से मल्लयुद्ध करने की तैयारी करने लगे। कोलाहल सुनकर राजपुरुष लोग आ गए और सैनिकों की सहायता से उन्होंने शक्ति तथा उनके अनुचरों को दूर भगा दिया। चक्र के भीतर बैठे बोधिसत्त्व इसपर बड़ी आपत्ति कर रहे थे, किंतु दुर्ग के समान उनके अभेद्य चक्र के भीतर प्रवेश करने का किसी ने साहस नहीं किया और धीरे धीरे शांति स्थापित हो गई। वेष्टनी के बाहर उत्सव का क्रम अपने पूर्ण वेग से चल रहा था। शिष्य-समुदाय तथा महाशक्तियाँ मदिरा के भरे हुए कलश शौंडिकों की पण्यशालाओं से लेकर अनवरत रूप से स्तूप के भीतर चली जा रही थीं। कभी कभी नागरिकों की सहायता के लिये वे पण्यशालाओं में रह जातीं और भोजनादि तथा

विश्राम की व्यवस्था करती थीं। प्रतिहारों और रक्षकों का दल शांति तथा सुव्यवस्था की देखरेख कर रहा था और भिक्षुओं तथा इतर शक्तियों को उनके पास नहीं जाने देता था।

दिन का प्रथम प्रहर बीत जाने पर सम्राट् स्तूप की ओर पधारे। श्रृंगों और तूर्यों के रव से जनसमूह जैसे बधिर हो गया और कुछ काल के लिये उत्सव का क्रम रुद्ध हो गया। सैनिकों ने जनस्रोत को अवरुद्ध करके सम्राट् के लिये मार्ग परिष्कृत कर दिया। श्वेत कौषेय धारण किए हुए महाराज तथा युवराज वेष्टनी के द्वार पर उपस्थित हुए और नतजानु होकर उन्होंने काषायधारी भिक्षुओं को अभिवादन किया। प्राचीन रीति के अनुसार स्तूपार्चन और परिक्रमण समाप्त करके सम्राट् वेष्टनी के बाहर आ गए और नवागत भिक्षुओं को साथ लिए वापस जाने लगे। अर्चना समाप्त होने पर बुद्धों तथा बोधिसत्त्वों ने देखा कि इन भिक्षुओं ने दक्षिणा के लिये आग्रह नहीं किया। उन्होंने आशा की थी कि स्तूपार्चन शेष होने पर नागरिकों की भाँति सम्राट् भी उन लोगों की अर्चना करेंगे। सम्राट् को वेष्टनी से बाहर जाते सुनकर बहुतेरे अपने चक्र से बाहर निकलने का उपक्रम करने लगे किंतु भांडागारिक इंद्रगुप्त के आश्वासन पर पुनः बैठ रहे। इंद्रगुप्त ने जब सम्राट् की नामांकित नवीन स्वर्णमुद्रा का वितरण आरंभ किया तब भयंकर कोलाहल मचा। बुद्धों तथा बोधिसत्त्वों ने चक्रों का परित्याग करके उन्हें घेर लिया। सुवर्णमुद्रा का नाम कान में पड़ते ही मधुभांडों का परित्याग करके भिक्षुओं तथा शक्तियों का समूह शौंडिक-वीथी से निकलकर स्तूप की ओर अग्रसर हुआ। नागरिकों ने यह व्यापार देखा

तो दूर खिसक गए। बड़ी कठिनाई से, सैनिकों की सहायता लेने पर, सुवर्ण वितरण आरंभ हुआ। पद-मर्यादा के अनुसार बुद्धों, बोधिसत्त्वों, शक्तियों, भिक्षुओं तथा शिष्यों को दक्षिणा दी गई। यह कार्य तृतीय प्रहर तक चलता रहा। तदुपरांत दिखाई पड़ा कि एक वृद्ध किन्हीं मदोन्मत्त तरुणी शक्ति को बलपूर्वक शौंडिकालय से लिए आ रहे हैं। विशेष मधुपान में जो सुवर्ण प्रयुक्त हो चुके थे उनका लोभ संवरण करके उन्हें अपनी शक्ति की सहायता करने के लिये बाध्य होना पड़ा था। इनकी मर्यादा का भी पालन करके इंद्रगुप्त वेष्टनी से चले गए। अपराह्न में जनसमूह स्तूप की ओर पुनः लौटा। संध्या समय प्राचीन प्रथा के अनुसार स्तूप आलोकमालाओं से सजाया गया, नागरिक तथा नागरिकाएँ इधर उधर घूमने लगीं। बुद्ध, बोधिसत्त्व तथा शक्तियाँ यथा-साध्य सज-धजकर जनसमूह में संमिलित हो गईं। प्रतिहार तथा नगर-रक्षक मार्गरक्षा पर नियुक्त थे। रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत होते होते उत्सव का वेग मंद पड़ने लगा। सुनाई पड़ा कि किसी बुद्ध को किसी नागरिक ने अपनी तरुणी भार्या का अंगस्पर्श करने के कारण आहत कर दिया; कोई बोधिसत्त्व किसी नागरिक की कन्या को प्रव्रज्या प्रदान करने के उपरांत उसे लेकर अंधकार में अदृश्य हो गए हैं और रक्षकदल उन्हें ढूँढने निकला है; कई भिक्षुओं को वेष्टनी में चोरी करने के कारण महाप्रतिहार ने शृंखलाबद्ध कर रखा है; कतिपय भिक्षु, शक्तियाँ तथा शिष्य पण्यशालाओं से बिना मूल्य दिए सामग्री का अपहरण करने के अपराध में बंदी हैं। इन्हें नगर में भेजना होगा जहाँ दंडपाशिक तथा दंडनायक इनका विचार करेंगे। जो शक्तियाँ संघ का त्याग कर

नागरिकों के आश्रय में चली गई हैं उनके अधिकारी बुद्धों एवं बोधि-सत्त्वों ने महाप्रतिहार के निकट विचार की प्रार्थना की है। दो प्रहर रात्रि व्यतीत होने पर वेष्टनी जनशून्य हो गई किंतु आसव - विक्रेताओं की पण्यशालाएँ उसके बाद भी खुली रहीं। भिक्षुओं ने आसव की सहायता से निर्वाण का आधा पथ पार कर लिया था। चलने-फिरने में अक्षम स्त्री-पुरुषों को रक्षकगण उठाकर ले जा रहे थे। किसी किसी पर नागरिक पदाघात भी कर रहे थे। रात्रि का तृतीय प्रहर शेष होने पर दीप निर्वापित कर दिए गए और रक्षकों के अतिरिक्त स्तूप के पास कोई नहीं रह गया। प्रातःकाल थोड़े से अनुचरों के साथ सम्राट् तथा युवराज ने शिविर से प्रस्थान किया। उत्सव समाप्त हो गया।

———

१२

यशोधर्मदेव का विशाल साम्राज्य जल के बुद्‌बुद्‌ की भाँति अनंत में विलीन हो गया है। उत्तरापथ में उसका कोई चिह्न भी अवशिष्ट नहीं रह गया है। रेवा से लेकर लौहित्य पर्यंत विस्तृत भूखंड के अधीश्वर अपने अनुज को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित नहीं कर सके। यशोधर्म की मृत्यु के साथ ही आर्यावर्त्त से दशपुर के राजवंश का प्रभाव उठ गया। प्राचीन गुप्त साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर नित्य नए राज्य गठित होते और कुछ ही दिनों में लुप्त हो जाते थे। यशोधर्म की मृत्यु के साथ उस छोटे से संघाराम का सौभाग्यसूर्य भी अस्त हो गया। सम्राट् जब तक जीवित थे तब तक अपने परित्राता वृद्ध स्थविर की स्मृति में स्तूप एवं संघाराम के निमित्त विपुल द्रव्य व्यय किया करते थे और वहाँ निवास करनेवालों की संख्या में कभी कमी नहीं होती थी। अर्थलोलुप, संकीर्ण विचार तथा पशुवृत्ति वाले बोधिसत्त्वों तथा शक्तियों से संघाराम सदैव परिपूर्ण रहा करता था। किंतु सम्राट् की मृत्यु के उपरांत जब साम्राज्य गीली बालुका के कंदुक की भाँति बिखर गया तब

बोधिसत्त्वों और शैक्तियों की मंडली ने सुख के दिन गए देखकर स्तूप का परित्याग कर दिया। वह वन्य प्रदेश उस समय जनसमूह से परिपूर्ण हो गया था। थोड़ी दूर हटकर आभीरों ने अपना एक ग्राम स्थापित कर लिया था और श्यामांगी निर्भय आभीर बालाएँ महाराज धनभूति की नगरी के ध्वंसावशेष के ऊपर निर्द्वंद्व भाव से भैंस चराया करती थीं। संघाराम जनशून्य हो जाने पर उक्त ग्राम की आभीर स्त्रियाँ संध्या से पहले आकर स्तूप तथा संघाराम को परिष्कृत किया करतीं, वन्य पुष्पों की मालाओं से हम लोगों को सुसज्जित किया करतीं, तथा रात्रिकाल में असंख्य घृतदीपों के प्रकाश से वह स्थान आलोकित रहता था। आभीर युवक अरण्य के अत्याचार से हम लोगों की रक्षा किया करते तथा बाँस अथवा वृक्षशाखाओं की सहायता से जीर्ण संघाराम का समय समय पर संस्कार किया करते थे। कभी कभी वे संघाराम के प्रांगण में वृक्ष की छाया में बैठकर वृद्धजनों से बोधिसत्त्वों के असीम प्रभाव और जादूगरी में उनके असाधारण लाघव की अद्भुत कहानियाँ सुनते सुनते भय से रोमांचित हो जाया करते थे। कभी कभी दूर देश से दो-एक काषायधारी भिक्षु बड़ी कठिनाई से वन्य मार्ग पारकर हम लोगों के पास तक पहुँचते और हम लोगों का ध्वंसावशेष देखकर उनकी आँखों में आँसू आ जाया करते थे। आभीर स्त्रियाँ उनका यथासाध्य सत्कार किया करती थीं। वे गौतम बुद्ध द्वारा प्रचलित प्राचीन प्रथा के अनुसार स्तूप की अर्चना, परिक्रमण इत्यादि कृत्य संपन्न करके पुनः अरण्य मार्ग से लौट जाया करते थे। इस प्रकार कितने दिन बीते, यदि इसे बता सकता तो आर्यावर्त्त का इतिहास अपूर्ण न रहता। दिवस, मास तथा

वर्ष की न जाने कितनी कड़ियाँ जुटती चली गईं और हम लोग आभीरों के उपास्य देवता बने रहे। क्रमशः संघाराम मिट्टी के स्तूप में परिणत हो गया, परिक्रमण-पथ हरित् दूर्वादलों से आच्छादित हो गया; हम लोगों के लोहित वर्ण शरीर पर पुनः हरिताभ काई जम गई, और आर्यावर्त्त से कोई प्राणी हम लोगों का कुशलक्षेम पूछने नहीं आया।

एक दिन आभीरों के ग्राम में किसी नूतन संप्रदाय का एक भिक्षु आया। उसका परिधान गैरिक वर्ण का, सिर की जटाएँ लंबी, समस्त शरीर भस्म से लिप्त तथा हाथ में त्रिशूल था। ग्राम की बालक-बालिकाएँ उसे देखते ही भाग जाती थीं। किंतु वृद्धजन उसके प्रति बड़ी श्रद्धा-भक्ति प्रकट कर रहे थे। यह नवीन भिक्षु एक मास से ऊपर उस ग्राम में टिका रहा। प्रति दिन वह वन के भीतर बहुत दूर तक पर्यटन करने निकल जाया करता था। एक एक करके उसने वन्य प्रदेश के समस्त ध्वंसावशेषों का भली भाँति निरीक्षण किया। विशेष रूप से उसने महाराज धनभूति की नगरी, स्तूप तथा संघाराम के अवशेषों का परीक्षण किया। तदनंतर कुछ दिनों के लिये वह कहीं अदृश्य हो गया। उसी दिन मध्याह्न में आभीर स्त्रियाँ हमारी छाया में बैठी चर्चा करती थीं कि संन्यासी अपने साथियों को बुलाने मध्यदेश गए हैं, शीघ्र ही लौटेंगे।

सचमुच वह शैव संन्यासी प्रायः तीन मास पश्चात् लगभग पचास अल्पवयस्क संन्यासियों के साथ पुनः आया। ये नवागत भिक्षु महाराज धनभूति की नगरी के ध्वंसावशेष में सर्वोच्च स्थान देखकर वहीं अपने आवास बनाकर रहने लगे। पहले जो संन्यासी आभीर-ग्राम में आया

था वही इस नवीन संघाराम का महास्थविर हुआ। ये अपने संघाराम को मठ तथा महास्थविर को मठाधीश या मठाधिप कहा करते थे और राजा की भाँति उसका संमान किया करते थे। बौद्ध संघ के भिक्षुओं के समान स्वेच्छाचार इस नवीन संप्रदाय में दृष्टिगोचर नहीं होता था। ये सर्वदा स्वच्छंदता, अध्ययन, अध्यापन तथा उपासना में मग्न रहते, कठोर संयमपूर्वक जीवनयापन करते, अपने से ज्येष्ठ तथा स्थविरों का पितृतुल्यों आदर करते एवं स्त्री जाति को कालसर्प के सदृश दूर से देखते ही अलग हट जाते थे।

आभीरों की सहायता से स्तूप तथा संघाराम के ध्वंसावशिष्ट पाषाण का संग्रह करके स्तूप के दक्षिणी द्वार के संमुख इन्होंने छोटे छोटे कुछ आवास बना लिए। बहुत दिनों के उपरांत, स्तूप के ध्वंसावशेष का अनुसंधान करते समय तुम लोगों ने उन आवासों की दीवारें देखी थीं। इन्हीं आवासों में संन्यासीगण पूजा किया करते थे। ग्रामवासी आभीरों की भेंट तथा वन्य फल-मूलों पर निर्भर रहकर वे कालक्षेप करते तथा अवसर मिलने पर अरण्य में पर्यटन भी किया करते थे। उस समय तक विगत सहस्रों वर्षों में जो सैकड़ों विप्लव हो चुके थे उनके कारण उस प्रदेश के आर्य उपनिवेश विध्वस्त हो गए थे, मनुष्यों से परिपूर्ण प्रदेश वनों में परिणत हो गए थे एवं उत्तरापथ और दक्षिणापथ का वह मध्यवर्ती भाग सैकड़ों प्राचीन नगरों के ध्वंसावशेषों से आच्छन्न हो गया था। धीरे धीरे इन अरण्य-प्रदेशों पर अनार्यवंशी बर्बर जातियों ने अपना आधिपत्य जमा लिया था। संन्यासी गण इन वनों में निर्भय होकर विचरण किया करते तथा अपने आभीर ग्राम से अन्यान्य ग्रामों

में जाकर वे बर्बरों को शिक्षित करने का प्रयत्न करते थे। अपनी पवित्रता, संयम, निष्ठा और शिक्षा के कारण वे सर्वत्र भक्तिभाजन और आदरणीय समझे जाते थे। मृगयाजीवी गोभक्षी आभीर पशुहत्या छोड़कर गोपालों के सहयोग से कृषिकर्म में प्रवृत्त हुए तथा पशुचर्म के स्थान पर कपास के कपड़े पहनने लगे। परिपूर्णता की अवस्था में अस्वाभाविक खान-पान तथा अभाव में अनशन करना छोड़कर उन्होंने भविष्य के निमित्त संचय करना सीखा। संन्यासियों के प्रयत्न से उस वन्यदेश में मुद्रा का प्रचलन, पण्य की स्थापना इत्यादि कार्य संपादित हुए तथा उस आरण्यक भूखंड में धीरे धीरे सुशासन स्थापित होने लगा। उत्तरापथ के राजाओं के संमिलित प्रयत्न से जो कार्य नहीं हो सका था वह मुट्ठी भर संसारत्यागी संन्यासियों की चेष्टा से सफल हो रहा था। वन्य प्रदेश के निवासियों के जंगली नाम भी इन संन्यासियों के कारण क्रमशः लुप्त हो रहे थे। पहले उत्तर अथवा दक्षिण के यात्री प्राणभय के कारण स्तूप-दर्शन के निमित्त नहीं आया करते थे; लंबा वनमार्ग पार करते समय बर्बर वनवासी उन्हें लूट लिया करते तथा उनकी हत्या तक कर डालते थे जिसके कारण उधर का मार्ग बड़ा भयंकर हो गया था। किंतु जैसे जैसे समय बीतता जाता था वैसे वैसे बर्बर जाति प्राचीन आर्य सभ्यता में दीक्षित होती चलती थी। जो लोग वन्य पशुओं को मारकर जीवन निर्वाह करते थे वे संन्यासियों की शिक्षा के फलस्वरूप कृषिकर्म तथा वाणिज्य की ओर दत्तचित्त हो रहे थे। उनकी नरहत्या तथा लूटमार करने की प्रवृत्ति नष्ट हो रही थी। धीरे धीरे वह वन्य प्रदेश पुनः मनुष्यों से पूर्ण हो गया। उत्तर तथा

दक्षिण के सार्थवाह निर्भय होकर घोड़ों, ऊँटों अथवा गधों पर पण्य-सामग्री लादकर वनमार्ग से आवागमन करने लगे। मगध, मध्यदेश तथा पंचनद के वणिक् उस वन्य प्रदेश में उत्पन्न होनेवाली पण्य-सामग्री के लोभ से बराबर आने लगे। वह प्रदेश अब नाम मात्र के लिये वन्य प्रदेश रह गया था। विंध्य-शिखर के अतिरिक्त घनघोर महावन कहीं नहीं रह गया था। संन्यासी गण काषाय वस्त्र धारण किए तथा खंडित पाषाण से बने घरों में रहकर इस विस्तृत राज्य का शासन करते थे। उस वन्य प्रदेश में न कोई राजा था न प्रजा, किंतु राजशक्ति का अभाव होते हुए भी वहाँ कभी लड़ाई-झगड़े नहीं होते थे। फटे-पुराने गैरिक वस्त्रधारी संन्यासी अपने अंगुलि-निर्देश मात्र से उस विशाल जनसमूह का संचालन किया करते थे। मठ में एक के पश्चात् दूसरे अध्यक्ष वन्य प्रदेश की सेवा के निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग किया करते थे। उनका शरीरांत होने पर मठवासी प्राचीन स्तूप के परिक्रमण पर बिछे शिला-खंडों को उखाड़कर उन्हें समाधिस्थ कर देते थे। किन्हीं किन्हीं मठाधीश के देहावसान पर विंध्य से लेकर सह्याद्रि तक के प्रदेशों में क्रंदन ही क्रंदन सुनाई पड़ता था, संपूर्ण कार्य स्थगित हो जाता था, तथा समस्त निवासी शोक में निमग्न हो जाते थे।

भाग्यचक्र के परिवर्त्तन से आर्यावर्त्त तथा दक्षिणापथ के जो समस्त राजवंश गुप्त साम्राज्य के ध्वंसावशेष का अपहरण करके संपन्न बन बैठे थे उनका अधःपतन आरंभ हो गया। बहुत दूर प्राचीन पुण्यक्षेत्र स्थाणीश्वर में गौरव-सूर्य का उदय हो रहा था। उस समय भी सम्राट्-पद ग्रहण करके एक गुप्तवंशी राजा मगध का शासन कर रहे थे; प्रभा-

करवर्द्धन ने पंचनद से हूणों का मूलोच्छेद कर दिया था, गुप्तवंश की कन्या का पाणिग्रहण करके जयवर्द्धन धन्य हो चुके थे, राज्यवर्द्धन का प्रताप हिमाच्छादित शिखर पर बैठे हुए कांबोजराज को भयभीत कर रहा था, पुरुषपुर से लेकर कामरूप तक तथा हिमालय के पादप्रदेश से लेकर नर्मदातट तक के भूखंड पर हर्षवर्द्धन का आधिपत्य स्थापित हो गया था, किंतु फिर भी उस पार्वत्य वन्य प्रदेश ने उस समय तक उत्तरापथ के राजाओं की अधीनता स्वीकार नहीं की थी।

कान्यकुब्ज से सम्राट् के दूत संवाद ले आए थे कि महाराज दक्षिण कोशल की तीर्थयात्रा के लिये प्रस्थान करनेवाले हैं। भग्न आवास के भीतर तृणासन पर बैठकर वे इस वन्य प्रदेश के मुकुट-विहीन सम्राट् को कान्यकुब्ज-सम्राट् का संदेश सुना रहे थे। श्वेत जटाजूट तथा जीर्ण गैरिक वस्त्रधारी कुंदनकांति मठाध्यक्ष कुशासन पर बैठे राजदूत के साथ वार्तालाप कर रहे थे। मठवासियों को देखकर कूटनीति-कुशल राजदूत विस्मित हो रहे थे; उनके मन में संदेह के स्थान पर धीरे धीरे भक्ति का उद्रेक हो रहा था। प्रातःकाल मेरे पार्श्व में खड़े होकर, मेरे मस्तक पर हाथ टिकाए, स्थविर मठाध्यक्ष कह रहे थे—'महात्मन्, हम लोगों के साथ छलना की कोई आवश्यकता नहीं है। आर्यावर्त्त-सम्राट् की विजिगीषा अभी तृप्त नहीं हुई है; विशाल उत्तरापथ उनकी राज्य-लालसा शांत करने में समर्थ नहीं हो सका है। भिक्षाजीवी संन्यासियों से छल करना निष्प्रयोजन है। इस वन्य प्रदेश तथा दक्षिणापथ की ओर हर्ष की दृष्टि आकृष्ट हो चुकी है, इसका अनुभव हम लोगों को पहले ही हो गया था। अपनी आचार्य-परंपरा के अनुसार देवाधिदेव की सेवा करते हुए हम लोगों

ने इस वन में लगभग सौ वर्ष व्यतीत किया है और महेश्वर के अनुग्रह से यहाँ के बर्बर निवासी शांत तथा शिक्षित हो गए हैं। प्राचीन कोशल राज्य की उर्वर भूमि रत्नप्रसविनी है। उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ के राजाओं की लोलुप दृष्टि इसपर बहुत दिनों से लगी हुई है। हमारे पूर्वजों ने भी इसका अनुभव किया था और वे बराबर शंकित रहा करते थे। हम लोगों ने बर्बर जाति को अवश्य शासित किया है किंतु देशरक्षा की सामर्थ्य हममें नहीं है। त्रिशूल लेकर चालुक्य और वर्द्धन राज्य की विजयी सेना के संमुख खड़े होने हम लोग नहीं जायँगे, यह ध्रुव है। आप कान्यकुब्ज लौट जायँ; मैं देवाधिदेव को स्पर्श करके कहता हूँ कि बिना मीन-मेष किए, बिना किसी रक्तपात के, चुपचाप विशाल कोशल राज्य आर्यावर्त्त-सम्राट् के समक्ष नतमस्तक हो जायगा। यह तो निश्चित है कि विभिन्न ग्रामों के मांडलिक स्वाधीनता का अपहरण होने पर उत्तेजित अवश्य होंगे, किंतु अंततः वे हम लोगों से अलग नहीं होंगे। मेरी आज्ञा के विरुद्ध कोई कुछ नहीं करेगा। हर्षवर्द्धन निर्विघ्न इस वन्य प्रदेश पर अधिकार कर लेंगे। किंतु दक्षिणापथ के चालुक्य इसे सहन नहीं करेंगे। कोशल से वातापीपुर का मार्ग बड़ा लंबा है। हर्षवर्द्धन के कोशल में पदार्पण करने पर पुलकेशी का सिंहासन डावाँडोल हो जायगा। दूतराज! यह ठीक है कि पहले आर्यावर्त्त के कई राजाओं ने दक्षिणापथ को विजय किया था, किंतु अब यह कार्य उतना सरल नहीं रह गया है। दक्षिणापथ में नवीन बल का संचार हो चुका है; मंगलेश के वंश की तलवार दुर्बल हाथों में नहीं है। महात्मन्, कान्यकुब्ज-सम्राट्

जाकर निवेदन कीजिएगा कि विपत्ति इस वन्य प्रदेश में नहीं, प्रस्तुत वातापीपुर तथा नर्मदा के तट पर उनकी प्रतीक्षा करेगी। देवाधिदेव के आदेशानुसार हम लोग नतमस्तक होकर हर्षवर्द्धन की आज्ञा का पालन करेंगे, किंतु जान रखिएगा कि आर्यावर्त्त में समुद्रगुप्त जैसी दूसरी विजय-गाथा अब कभी सुनाई पड़ने की नहीं।'

नतमस्तक होकर स्थाण्वीश्वर-सम्राट् के दूत मठ से चले गए। मैं कहना भूल गया था कि मठवासियों ने पहले ही हमारा शरीर स्वच्छ करके हमें शिवलिंग जैसा बना दिया था और प्रति दिन बड़े आयोजन के साथ हमारी पूजा किया करते थे; किंतु जो महान् विभूति मानव जाति के कल्याण के लिये राजपद तथा संसार-सुख का परित्याग कर उत्तरापथवासियों के घर घर नंगे पैर अपना संदेश पहुँचाया करती थी उसका भस्मावशेष पास ही पत्थरों में दबा पड़ा था और उसके प्रति कोई आँख उलटकर देखता तक नहीं था। यही मानव स्वभाव है!

लाखों की संख्या में उत्तरापथ की सेना ने कोशल के वन्य प्रदेश में प्रवेश किया। अनंत काल से स्वच्छंदता का जीवन व्यतीत करनेवाले बर्बरों ने तत्काल समझ लिया कि यह देवयात्रा या तीर्थयात्रा नहीं अपितु हर्षवर्द्धन की दक्षिणापथ की विजय-यात्रा है। गाँव गाँव, नगर नगर, नंगे पैर पर्यटन करके संन्यासियों ने उद्धत-स्वभाव बर्बर मांडलिकों को शांत कर रखा था। मठाध्यक्ष का अनुमान ठीक निकला। रक्त का एक भी बिंदु नहीं गिरा तथा यह विशाल समृद्धिशाली प्रदेश हर्षवर्द्धन के साम्राज्य में अंतर्भुक्त हो गया। सम्राट् ने जिन्हें दूत के रूप में

कोशल देश भेजा था उनकी पदोन्नति हो गई. कोशल पर विजय हो गई और दक्षिणापथ के द्वारदेश पर सम्राट् हर्षवर्द्धन का आधिपत्य हो गया।

विद्युद्वेग से यह समाचार कोशल से विदिशा, विदिशा से प्रतिष्ठान और प्रतिष्ठान से वातापीपुर पहुँच गया। विपत्ति के बादल सिर पर मँडराते देख चालुक्यराज आत्मरक्षा में प्रवृत्त हुए। नर्मदा के तट पर विशाल स्कंधावार निर्मित हुआ। आर्यावर्त्त की सेना के विभिन्न अश्वारोही तथा पदाति दल कोशल में स्थान स्थान पर अपने शिविर स्थापित करते जाते थे। सम्राट् की सेना से त्रस्त होकर बर्बर ग्रामवासी तथा मांडलिक समय समय पर उत्तेजित हो उठते थे किंतु संन्यासियों के एकांत प्रयत्न के कारण कहीं पर भी युद्धाग्नि भड़कने नहीं पाई। क्रमशः जब नर्मदा के समस्त तट पर स्थान स्थान पर सेना के शिविर स्थापित हो गए तब स्वयं सम्राट् ने कान्यकुब्ज से प्रस्थान करके कोशल में प्रवेश किया। दुर्ग-प्राकार की भाँति श्वेतवर्ण प्रस्तर-शिलाओं से रक्षित नर्मदा के ऊँचे तट पर वातापीपुर की सेना घाटों की रक्षा कर रही थी। थोड़ी सी सेना लिए चालुक्य-सेनापति सीमांत पर थे। किंतु प्रस्तर-शिलाओं से भरे हुए तट के कारण वर्षा के जल से उमड़ी हुई नर्मदा का पार करना आर्यावर्त्त के सेनापतियों के लिये बड़ा दुस्तर हो उठा था।

तीर्थाटन के व्याज से प्रच्छन्न रूप में दक्षिणापथ-विजय के निमित्त निकले हुए हर्षवर्द्धन को तीर्थयात्रा वाली बात भूली नहीं थी। कोशल में आकर सम्राट् ने मठ तथा स्तूप के दर्शनों का अपना मंतव्य सूचित

जाकर निवेदन कीजिएगा कि विपचि इस वन्य प्रदेश में नहीं, प्रत्युत वातापीपुर तथा नर्मदा के तट पर उनकी प्रतीक्षा करेगी। देवाधिदेव के आदेशानुसार हम लोग नतमस्तक होकर हर्षवर्द्धन की आज्ञा का पालन करेंगे, किंतु जान रखिएगा कि आर्यावर्त्त में समुद्रगुप्त जैसी दूसरी विजय-गाथा अब कभी सुनाई पड़ने की नहीं।'

नतमस्तक होकर स्थाण्वीश्वर-सम्राट् के दूत मठ से चले गए। मैं कहना भूल गया था कि मठवासियों ने पहले ही हमारा शरीर स्वच्छ करके हमें शिवलिंग जैसा बना दिया था और प्रति दिन बड़े आयोजन के साथ हमारी पूजा किया करते थे; किंतु जो महान् विभूति मानव जाति के कल्याण के लिये राजपद तथा संसार-सुख का परित्याग कर उत्तरापथवासियों के घर घर नंगे पैर अपना संदेश पहुँचाया करती थी उसका भस्मावशेष पास ही पत्थरों में दबा पड़ा था और उसके प्रति कोई आँख उलटकर देखता तक नहीं था। यही मानव स्वभाव है!

लाखों की संख्या में उत्तरापथ की सेना ने कोशल के वन्य प्रदेश में प्रवेश किया। अनंत काल से स्वच्छंदता का जीवन व्यतीत करनेवाले बर्बरों ने तत्काल समझ लिया कि यह देवयात्रा या तीर्थयात्रा नहीं अपितु हर्षवर्द्धन की दक्षिणापथ की विजय-यात्रा है। गाँव गाँव, नगर नगर, नंगे पैर पर्यटन करके संन्यासियों ने उद्धत-स्वभाव बर्बर मांडलिकों को शांत कर रखा था। मठाध्यक्ष का अनुमान ठीक निकला। रक्त का एक भी बिंदु नहीं गिरा तथा यह विशाल समृद्धिशाली प्रदेश हर्षवर्द्धन के साम्राज्य में अंतर्भुक्त हो गया। सम्राट् ने जिन्हें दूत के रूप में

कोशल देश भेजा था उनकी पदोन्नति हो गई। कोशल पर विजय हो गई और दक्षिणापथ के द्वारदेश पर सम्राट् हर्षवर्द्धन का आधिपत्य हो गया।

विद्युद्वेग से यह समाचार कोशल से विदिशा, विदिशा से प्रतिष्ठान और प्रतिष्ठान से वातापीपुर पहुँच गया। विपत्ति के बादल सिर पर मँडराते देख चालुक्यराज आत्मरक्षा में प्रवृत्त हुए। नर्मदा के तट पर विशाल स्कंधावार निर्मित हुआ। आर्यावर्त्त की सेना के विभिन्न अश्वारोही तथा पदाति दल कोशल में स्थान स्थान पर अपने शिविर स्थापित करते जाते थे। सम्राट् की सेना से त्रस्त होकर बर्बर ग्रामवासी तथा मांडलिक समय समय पर उत्तेजित हो उठते थे किंतु संन्यासियों के एकांत प्रयत्न के कारण कहीं पर भी युद्धाग्नि भड़कने नहीं पाई। क्रमशः जब नर्मदा के समस्त तट पर स्थान स्थान पर सेना के शिविर स्थापित हो गए तब स्वयं सम्राट् ने कान्यकुब्ज से प्रस्थान करके कोशल में प्रवेश किया। दुर्ग-प्राकार की भाँति श्वेतवर्ण प्रस्तर-शिलाओं से रक्षित नर्मदा के ऊँचे तट पर वातापीपुर की सेना घाटों की रक्षा कर रही थी। थोड़ी सी सेना लिए चालुक्य-सेनापति सीमांत पर थे। किंतु प्रस्तर-शिलाओं से भरे हुए तट के कारण वर्षा के जल से उमड़ी हुई नर्मदा का पार करना आर्यावर्त्त के सेनापतियों के लिये बड़ा दुस्तर हो उठा था।

तीर्थाटन के व्याज से प्रच्छन्न रूप में दक्षिणापथ-विजय के निमित्त निकले हुए हर्षवर्द्धन को तीर्थयात्रा वाली बात भूली नहीं थी। कोशल में आकर सम्राट् ने मठ तथा स्तूप के दर्शनों का अपना मंतव्य सूचित

करने के लिये मठाधीश्वर के पास दूत भेजा था। यथासमय वे अपने आत्मीय स्वजनों तथा प्रधान प्रधान सेनाधिकारियों के साथ मठ के दर्शनार्थ पधारे। मठाधिप ने यथासामर्थ्य सम्राट् की अभ्यर्थना का आयोजन किया था। किंचित् काल के लिये सम्राट् स्तूप तक आए भी थे और इधर-उधर ध्वंसावशेषों को देखकर एक बार शिवस्वरूपधारी मेरे सामने मस्तक भी झुकाया था किंतु फिर वे तुरंत नर्मदातट लौट गए थे। यहाँ उपस्थित सभी लोगों ने इस बात को लक्ष्य किया कि हर्ष का स्तूप-दर्शन भक्ति-प्रेरित नहीं था।

वर्षाकाल समाप्त होने पर हर्षवर्द्धन की सेना ने विभिन्न स्थानों पर नर्मदा पार करने का प्रयत्न किया किंतु सर्वत्र शिलाओं की ओट में छिपी हुई चालुक्य सेना ने उसके प्रयत्न को निष्फल कर दिया। नौका अथवा नौसेतु में से किसी भी उपाय द्वारा जब नर्मदा के दक्षिण तट पर अधिकार नहीं हो सका तब कई स्थानों से सेना एकत्र कर हर्षवर्द्धन ने स्वयं उसका नेतृत्व ग्रहण किया। दक्षिण के अभियान का इतिवृत्त तुम लोगों के इतिहास में दिया हुआ है। जिन चरणों को आर्यावर्त्त के राजा अपनी मुकुटमणियों से आलोकित किया करते थे उन युगलचरणों ने कभी नर्मदा के दक्षिणी तट का स्पर्श नहीं किया। बारंबार पराजित होकर अंत में हर्षवर्द्धन नर्मदा तट से लौट आने के लिये बाध्य हुए। तेरह वर्ष तक चालुक्यराज ने नर्मदा तट पर आत्मरक्षा की। हर्षवर्द्धन जितने दिन जीवित थे उतने दिन बराबर दोनों तटों पर विशाल सेनाएँ जमी रहीं। दक्षिणापथ-विजय की हर्ष की आशा जाती रही। वहाँ के सैकड़ों स्थानों पर पुलकेशी अपनी विजय-गाथा तथा उत्तरापथ के

सम्राट् का पराजय-वृत्त चिरस्थायी कर गए हैं। दक्षिणापथ की चढ़ाई के कारण कोशल में भी अशांति का सूत्रपात हो गया था। हर्षवर्द्धन की मृत्यु का समाचार सुनते ही एक मास के भीतर कोशल के पीड़ित और त्रस्त बर्बरों ने उत्तरापथ की सेना को खदेड़कर गंगा के उस पार भगा दिया।

१४

ग्रीष्म ऋतु की उत्तप्त और प्रचंड आँधी के समक्ष जैसे बालू के टीले उड़ जाते हैं वैसे ही हर्षवर्द्धन का साम्राज्य उड़कर पता नहीं कहाँ चला गया। आर्यावर्त्त पुनः छोटे छोटे अनेक राज्यों में विभक्त हो गया। सामान्य वन्य राज्य क्रमशः समृद्धिशाली जनपदों से परिपूर्ण होकर महाकोशल के नाम से अभिहित हुआ। हर्ष के राज्यकाल में जो राजकर्मचारी कोशल का शासन करते थे, अवसर पाते ही राजा की उपाधि धारण करके वे कोशल के राजसिंहासन पर बैठ गए। महाराज धनभूति की नगरी के बाहर स्तूप के पास नूतन राजवंश की नूतन राजधानी स्थापित हुई। इतिहास को आर्यावर्त्त के इस नूतन राजवंश का नाम अद्यापि अज्ञात है। आगे चलकर इसके वंशधरों ने बर्बर जाति की कन्याओं से विवाह कर जिस मिश्रित जाति की उत्पत्ति की थी वह इतिहास में चंद्रात्रेय अथवा चंदेल के नाम से ख्यात हुई। वन्य प्रदेश की उन्नति के साथ साथ मठ की भी उन्नति हो रही थी। मठवासियों ने यद्यपि राज्य-संचालन से हाथ समेट लिया था, तथापि

उनका प्रभाव और शक्ति बहुत अधिक थी। राजन्यवर्ग तथा बर्बरों के दलपतिगण सर्वदा प्रचुर परिमाण में अर्थदान एवं भूमिदान से उन्हें संतुष्ट रखने की चेष्टा करते थे। इस प्रकार धीरे धीरे धनसंपन्न और शक्तिसंपन्न होते होते शैव मठ के निवासी कोशल राज्य की राजशक्ति के समान ही क्षमताशाली हो गए। मठ के उत्कर्ष के साथ साथ उसके अधिष्ठाता देवता की भी उन्नति हो रही थी। दूर देशों से लाए गए रंग-बिरंगे पत्थरों को मेरे मस्तक पर चुन-चुनकर मठवासियों ने एक अत्यंत अद्भुत् विशाल प्रासाद खड़ा कर लिया था। उसकी गगनस्पर्शी चूड़ा का रौप्य त्रिशूल भगवान देवाधिदेव की महिमा की घोषणा कर रहा था। प्रति दिन सैकड़ों नर-नारी मेरा दर्शन करने आती थीं। पुष्प, चंदन तथा बिल्वपत्रों से मुझे आटोपित कर दिया जाता, दधि, दुग्ध, घृत, मधु, तथा जल की धारा से मेरा शरीर पिच्छिल बना रहता, स्वर्ण तथा रजत मुद्राओं की वर्षा से मुझे आच्छादित करके मठ का अर्थकोश परिपूर्ण किया जाता था। वंध्या स्त्रियाँ मुझसे पुत्र की, कुमारियाँ पति की, निर्धन धन की तथा युद्धजीवी विजय की कामना करते थे; किसी की कामना यदि अकस्मात् दैवयोग से पूरी हो जाती थी तो महाकोशल-वासियों का मेरी शक्ति के प्रति विश्वास सौगुना बढ़ जाया करता था, यद्यपि मैं उनसे यही कहा करता था कि मैं तो चलने-फिरने में अशक्त पाषाण का एक खंड मात्र हूँ; मुझमें देवत्व का कहीं कोई चिह्न भी नहीं है। कामना की पूर्ति करने की क्षमता यदि मुझमें होती तो मैं बौद्ध स्तूप की वेष्टनी के खंड विशेष से देवाधिदेव महादेव के रूप में परिगत न होता; वैसी क्षमता होने पर महास्थविर द्वारा अत्यंत परिश्रमपूर्वक

निर्मित स्तूप के भग्नावशेष पर न तो ब्राह्मणों का देवमंदिर बनने पाता और न महाराज धनभूति की नगरी के ऊपर आभीर स्त्रियाँ भैंस चराने पातीं! किंतु मेरी बात कोई सुनता नहीं था, मेरी भाषा को हृदयंगम करने की शक्ति अथवा इच्छा किसी में नहीं थी। बड़े बड़े सैकड़ों घंटों के घोर नाद के साथ सैकड़ों नर-नारियों के समवेत कंठ से निकलनेवाले 'शिव शिव शंभो', 'हर हर महादेव' के गंभीर स्वर से मंदिर की दीवारें तक काँपने लगतीं और निश्चल पाषाण की अस्फुट भाषा जनसमूह को सुनाई नहीं पड़ती थी। मेरे घृताक्त शरीर पर जल की अविराम धारा गिरती रहने के कारण कालांतर में वह टूटकर दो टुकड़े हो गया। एक दिन रात्रिवेला में मठवासियों ने दो तरुण शिल्पियों की सहायता से गुप्त रूप से मेरे खंडित शरीर को ताँबे और चाँदी के मिश्रण द्वारा जोड़ दिया और प्रातःकाल होने के पूर्व शिल्पियों की हत्या करके उन्हें मंदिर में बिछे हुए शिलाखंडों के नीचे समाहित कर दिया।

इस प्रकार कितना काल बीता, यह मैं ठीक ठीक नहीं जानता। सुना था कि हर्ष के मातुलपुत्र भंडि के वंशधर कान्यकुब्ज में सम्राट् उपाधि धारण करके सिंहासनारूढ़ हैं। उसके पश्चात् क्या हुआ, सो नहीं मालूम। यह भी ज्ञात हुआ था कि मगध में प्रभाकरवर्द्धन के मातुलपुत्र ने सम्राट् उपाधि धारण करके कुछ दिनों तक अपना आधिपत्य स्थिर रखा था। तदनंतर ऐसी स्थिति हो गई थी कि गाँव गाँव और नगर नगर में सम्राट् के दर्शन होते थे। आर्यावर्त्त में जितने श्रेष्ठ नगर थे, साम्राज्यों की संख्या उनकी अपेक्षा भी अधिक हो गई

थी और सम्राट् कहने से लोगों को सामान्य भू-स्वामी का बोध हुआ करता था।

मंदिर भी धीरे धीरे जराजीर्ण हो चला और मठवासी अतुलित संपत्ति के स्वामी होकर विलासिता में निमग्न हो गए। जिस योग्यता के बल पर उनके पूर्व-पुरुषों ने बर्बर जाति के हृदय पर अधिकार किया था वह योग्यता जाती रही। देवाधिदेव महादेव बना हुआ मैं भी अन्यान्य भू संपत्ति के सदृश अर्थागम का एक साधन मात्र रह गया था। ब्राह्मणों की भाषा के अनुसार मैं संसार का स्वामी होते हुए भी संप्रति बंदी था क्योंकि अर्थलोलुप मठवासियों ने मेरा शरीर स्वर्णपत्रों से आबद्ध कर दिया था और मेरे दरिद्र भक्त उसी आवरण के ऊपर पुष्प, बिल्वपत्र, जल आदि चढ़ाया करते थे। मेरे पाषाण स्वरूप का दर्शन केवल उन्हीं लोगों को प्राप्त होता था जो स्वर्ण मुद्राओं से मेरा गौरीपट्ट भर सकते थे। इस प्रकार उस वन्य राज्य में शताब्दियों पर शताब्दियाँ बीतती चली गईं।

बहुत दिनों बाद सुनाई पड़ा कि आर्यावर्त में पुनः यवनों ने प्रवेश किया है और गांधार तथा पंचनद पर उनका अधिकार हो गया है। नवीन शक्ति का संचय करके यवन जाति ने प्राचीन पारसीक राज्य को जीत लिया है। सुदूर अतीत में यवनों ने जब पहले पहल पंचनद पर अधिकार किया था तब उनका जैसा आचार-व्यवहार था वैसा अब नहीं रह गया था। कोई कोई कहता कि ये पहलेवाली यवन जाति के नहीं बल्कि उससे बिलकुल भिन्न जाति के हैं। नाम सुनकर मैंने विचार किया था कि जिनकी शिल्प-चातुरी

जीवन के आरंभ में मेरा आकार-प्रकार परिवर्तित हुआ था ये लोग उन्हीं के वंशधर हैं। किंतु मेरा भ्रम शीघ्र ही दूर हो गया। देखते-देखते यवन सेना ने समूचे आर्यावर्त्त को ग्रस लिया। वन्य नगरी के निवासियों ने भी सुना कि यवन लोग लूटपाट करने आ रहे हैं। उस दिन मंदिर में दर्शनार्थी नहीं आए। मेरे उपासक उदास तथा विक्षिप्त भाव से इधर उधर बैठे हुए थे। दूर से जब घोड़ों का शब्द सुनाई पड़ा तब जिसके जिधर पैर उठे वह उधर को ही भाग चला। देखते देखते सैकड़ों यवन अश्वारोही मंदिर में घुस आए और उल्काओं के प्रकाश से अंधकारपूर्ण गर्भगृह जगमगा उठा। मंदिर में घुसते ही यवनों ने लूट मचा दी। शीघ्र ही गर्भगृह से निकलकर वे मंदिर के प्रशस्त प्रांगण में चारो ओर फैल गए। सैकड़ों वर्षों से यत्नपूर्वक संचित की हुई धनराशि बिना किसी विघ्न-बाधा के उन्हें प्राप्त हो गई। गर्भगृह के भीतर एक यवन घोड़े पर सवार था, उसके सामने उल्का लिए दो और यवन खड़े थे तथा यवन सैनिक लूटी हुई वस्तु ला-लाकर उसके सामने रखते जा रहे थे। धीरे धीरे गर्भगृह के बीच में मणिमुक्ता तथा स्वर्ण का अंबार एकत्र हो गया। तत्पश्चात् एक एक करके कुछ यवन गर्भगृह के भीतर आकर एकत्र हुए। उनका रूपरंग, भाषा, परिधान, आचार-व्यवहार, कुछ भी प्राचीन यवनों के सदृश नहीं था। आकार-प्रकार में ये शक तथा हूणों के समान थे, परिधान वनवासी बर्बरों जैसा और आचार-विचार चांडालों के सदृश था। लूटने को जब कुछ शेष नहीं रह गया तब दलपति के आदेश से यवन सैनिकों ने मेरा स्वर्ण-निर्मित आच्छादन उखाड़ डाला। आच्छादन के भीतर नीरस पाषाण के

अतिरिक्त और कुछ न पाकर यवन सैनिक बड़े क्रुद्ध हुए। देखते देखते गदा तथा खड्ग के आघातों से मेरा ऊपरी भाग खंड खंड हो गया। बीसवीं शती के इस आधुनिक संग्रहालय में मेरा जो स्वरूप देखते हो वह यवनों द्वारा ही प्रदत्त है। निराश होकर यवन सैनिकों ने मुझे छोड़ दिया। लूटी हुई सामग्री दलपति के आदेशानुसार लोग मंदिर के बाहर ले गए। तदनंतर सूखी लकड़ियों से गर्भगृह भर दिया गया, मंदिर के बाहर भीतर सर्वत्र शिखर तक लकड़ियाँ चुन दी गईं। स्थान-स्थान पर लकड़ियों में आग लगाकर यवन लोग निकल गए। मंदिर के प्रांगण में धायँ धायँ जलती हुई सैकड़ों अग्निशिखाएँ पाषाण-खंडों को दग्ध करने लगीं। भीतर गर्भगृह में एकत्र की हुई लकड़ियाँ भी धीरे-धीरे जलने लगीं। भीतर बाहर दोनों ओर के प्रचंड ताप में पड़कर प्रस्तर खंड एक एक करके अपने स्थान से च्युत होने लगे। गर्भगृह के भीतर ताप की मात्रा असह्य हो गई थी और मंदिर के प्रांगण में सर्वत्र अग्नि फैल चुकी थी। दीवारों का बंध ढीला पड़ते ही घोर शब्द करता हुआ मंदिर का शिखर भूमि पर गिर पड़ा। उतना बड़ा प्रस्तर-खंड गिरने के कारण गर्भगृह की अग्नि बुझ अवश्य गई किंतु स्वयं गर्भगृह का कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं रहा। पाषाण-राशि के नीचे दब जाने से मैं लोकचक्षु से अगोचर हो गया। तदनंतर बहुत दिनों तक मैं आलोक, जगत् तथा मनुष्यों को देखने से वंचित रहा।

कालचक्र गतिशील था। इस प्रकार कितना काल बीत गया, इसका लेखा-जोखा मेरे पास नहीं है। इस सुदीर्घ अवधि में न तो मैंने प्रकाश देखा, न कभी मनुष्यों का दर्शन कर सका। मंदिर के टूटे हुए

पाषाणों का जो ढेर एकत्र हो गया था उन्हीं के उपरिवर्ती पाषाण-खंडों के द्वारा मैं सुना करता था कि यवनों से पराजित होकर बर्बर जाति वालों ने समतल भूमि से पलायन करके पर्वतों में आश्रय ग्रहण किया है। कोशल राज्य की समस्त समतल भूमि पुनः अरण्य क्षेत्र में परिणत हो गई है तथा पर्वतवासी बर्बर जाति के लोग सभ्य जगत् के संपर्क के अभाव में असभ्य होते जा रहे हैं। मन से पहले का संस्कार दूर न होने के कारण अब तक समय समय पर वे परिवार सहित गहन वनमार्ग पार करके भग्नावशिष्ट मंदिर की पूजा करने आया करते थे। मंदिर किसका है, उपास्य देवता कौन हैं आदि बातें उन्हें विस्मृत हो गई थीं। उन्हें केवल इतना स्मरण था कि अत्यंत प्राचीन काल से हमारे पूर्वज इन्हीं खंडित पाषाणों के पास पूजा किया करते थे। इसीलिये वे हिंस्र पशुओं से भरे हुए महाभयंकर वनमार्ग को पारकर इस जनशून्य तथा देवता-शून्य मंदिर के ध्वंसावशेष में उपासना करने आते थे। कभी कभी उनके बड़े-बूढ़े सायंकाल घर के द्वार पर बैठकर बालकों और युवकों से मंदिर की पूर्व समृद्धि और अपने विगत ऐश्वर्य की कहानी सुनाया करते एवं मठवासी संन्यासियों की आश्चर्यजनक विद्वत्ता, अपरिसीम करुणा तथा विलक्षण राजनीतिज्ञता की बातों से युवकों को विस्मयान्वित किया करते थे। इस प्रकार की कहानियाँ सुनने के उपरांत जब वे मंदिर के ध्वंसावशेष का दर्शन करने आते तब पाषाण-समूहों की विशालता देखकर एवं उनके पूर्व-गौरव की बातें स्मरण कर-करके भ्रांत और चकित हो रहते। इसी प्रकार कई युग आए और चले गए।

क्रमशः मैंने सुना कि किसी दूसरे अरण्य से कोई नवीन बर्बर जाति आकर हम लोगों के आसपास वाले अरण्य में बस गई है। उन्हें देखकर ऐसा भासित होता था कि वे सभ्यता के संपर्क में कभी नहीं आए। सुनता था कि उनके आने के बाद से पर्वतवासी बर्बरों को पहले की भाँति अरण्य मार्ग पारकर मंदिर के ध्वंसावशेषों की पूजा के लिये आने का साहस नहीं होता है। किंतु फिर भी वे कभी कभी आया अवश्य करते थे। उनके बड़े-बूढ़ों के मन में यह संस्कार बद्धमूल हो गया था कि विशेष विशेष तिथियों पर पाषाण-स्तूप की पूजा करना नितांत आवश्यक है क्योंकि पूर्वजों से उन्होंने सुन रखा था कि इन्हीं तिथियों पर मठवासी समारोहपूर्वक मंदिर में अधिष्ठित देवता की पूजा किया करते थे। नूतन बर्बर जाति के लोग वन के भीतर पेड़ों में से छिपकर उनकी पूजार्चना की विधि देखा करते थे। कुछ दिनों तक देखते देखते उनके मन में भी यह धारणा बँध गई कि इस पाषाण-स्तूप में निश्चित रूप से कुछ न कुछ विशेषता है, इसमें कहीं न कहीं किसी मंगलकारी अथवा अनिष्टकारी देवता का निवास अवश्य है। इस वन में उन्हीं देवता का राज्य है, अन्यथा दूरवर्ती पर्वतों पर रहनेवाले क्यों इतना बीहड़ वनमार्ग पारकर इन टूटे फूटे पत्थरों की पूजा करने आते।

शिशु जैसे अंधकार को देखकर घबड़ा जाता है, निर्जन और अज्ञात पथ पर जैसे मानव हृदय कंपित हो जाता है, वैसे ही भय ने वन्य जाति के लोगों को आक्रांत कर लिया। उनके वृद्धजन अश्रुतपूर्व वनदेवता की प्रसन्नता के लिये आयोजन करने लगे। हमलोग विस्मित

होकर सुना करते थे कि हजारों वर्ष पूर्व मानव जाति ने उपासना के निमित्त जिस स्थान का निर्देश कर दिया था, युग युग से मानव जाति चाहे श्रद्धा के कारण हो, चाहे भय और आतंक के कारण, ठीक उसी स्थान पर मस्तक झुकाती रही। धीरे धीरे टूटे-फूटे पाषाणों का वह स्तूप नवागत जाति की उपासना का केंद्र हो गया। भग्नावशिष्ट मंदिर के एक पार्श्व में चंदन लगाकर पर्वतवासी मेरे निमित्त पत्र, पुष्प तथा फलादि उत्सर्ग किया करते थे। दूसरी ओर नवीन वन्य जाति अपनी सनातन प्रथा के अनुसार शूकर, कुक्कुट आदि की बलि देकर मद्य-मांस के साथ हमारी पूजा करने लगी। इस लंबी अवधि में मंदिर के ध्वंसा-वशेष पर अनेक बड़े बड़े वृक्ष जम गए थे और उनकी भी पूजा होने लगी थी। नवीन वन्य जाति भी धीरे धीरे सभ्य होती जा रही थी। पहले वह वन्य पशुओं को मारकर उनका आहार किया करती थी और शरीराच्छादन के लिये उनके चर्म का व्यवहार करती थी। धीरे धीरे पर्वतवासियों का अनुकरण करके उसने भी कृषिकर्म सीख लिया और वह वन्य प्रदेश क्रमशः परिष्कृत होने लगा।

हम लोगों के ऊपर बैठा हुआ पाषाण-खंड एक दिन बोला कि वनवासियों की उपासना देखने आज एक नवीन जाति का मनुष्य आया हुआ है। उसका वर्ण श्वेत तथा वस्त्र विदेशी है। ऐसी जाति के मनुष्य पहले नहीं दृष्टिगोचर हुए थे। दूर खड़े खड़े वनवासियों की उपासना देखकर वह चला गया; न तो हम लोगों के पास आया और न उसने हमारा शरीर स्पर्श किया। श्वेतकाय मानवों की बात सुनकर मुझे बड़ा कुतूहल हुआ। मंदिर के ध्वंसावशेष

के ऊपरी भाग पर जो पाषाण-खंड थे वे नवीन स्तूप के पाषाणों की भाँति प्रवीण नहीं थे। मानव जाति के उद्भव के समय हम लोगों ने बहुतेरे श्वेतकाय मनुष्यों को देखा था किंतु उक्त पाषाण-खंड जिस समय पर्वत के पादप्रदेश से खोदकर लाए गए थे उस समय श्वेतकाय और कृष्ण-काय मानवों के मिश्रण से नवीन वर्ण की उत्पत्ति हो चुकी थी।

एक दिन दोपहर में मेरे ऊपरवाला प्रस्तर-खंड अचानक फिर बोल उठा कि पहले जैसे कई श्वेतांग मनुष्य हम लोगों की ओर आ रहे हैं। उस समय हेमंत ऋतु थी। स्तूप के पास भग्नावशेष मंदिर के चारों ओर वनवासियों के बाल-बच्चे मध्याह्न की धूप में निर्द्वंद्व भाव से क्रीड़ा कर रहे थे। श्वेतकाय मनुष्यों को देखते ही वे भयभीत होकर भाग गए। मैंने सुना कि श्वेतकाय मनुष्यों ने ध्वंसावशेष के ऊपर चढ़कर पाषाण-खंडों का सूक्ष्मतापूर्वक निरीक्षण किया। टूटे हुए स्तूप पर उस समय अनेक युगों के विविध वर्ण के प्रस्तर पड़े हुए थे। आगत मनुष्य उन्हीं की जाँच पड़ताल कर रहे थे। उनके स्पर्श से प्रतीत होता था कि प्राचीन पाषाणों को परखते परखते वे सिद्धहस्त हो चुके हैं और हाथ में लेते ही उनकी विशेषता जान लेते हैं। बहुत देर तक हम लोगों की परीक्षा करने के उपरांत श्वेतकाय मनुष्य संध्या के पहले ही वहाँ से चले गए।

दूसरे दिन प्रातःकाल खंता और रस्सी लिए दल के दल वनवासी नर-नारियों ने आकर हमें घेर लिया। उनके साथ एक श्वेतकाय मनुष्य भी आया था—वह वृद्ध और विरलकेश था, किंतु था श्मश्रु-युक्त। वनवासियों ने उसके निर्देशानुसार खनन कार्य आरंभ किया। जिस प्रस्तर-खंड पर सिंदूर आदि लगाकर उन्होंने देवत्व का आरोप

किया था उसे छोड़कर अन्य प्रस्तरों को रस्सियों तथा लौहदंडों की सहायता से वे अन्यत्र ले जाने लगे। इस कार्य में एक के पश्चात् दूसरा दिन बीतने लगा।

जिन पाषाण-खंडों को जोड़कर शैव संन्यासियों का मंदिर निर्मित हुआ था, धीरे धीरे वे सब स्थानांतरित हो गए। एक दिन मध्याह्न वेला में सैकड़ों वर्षों के अनंतर सूर्य की प्रखर रश्मियों के कारण मेरी आँखें चौंधिया गईं, मैं पुनः अंधकार से प्रकाश में आ गया। जितने दिनों तक देवाधिदेव महादेव के रूप में संन्यासियों द्वारा पूजित होता रहा उतने दिनों तक निरंतर दधि, दुग्ध, घृत, मधु तथा जल से स्नान करने के कारण मेरा शरीर चिकना हो गया था। किंतु मंदिर गिरते समय अग्नि के उत्ताप तथा गिरते हुए पाषाणों के आघात के कारण मेरा शरीर क्षत-विक्षत हो गया था। जिस समय मैं पुनः संसार में प्रकाशित हुआ उस समय किसी ने मुझे महादेव नाम से संबोधित नहीं किया। किंतु जो विरलकेश श्वेतकाय मनुष्य वनवासियों के कार्य का निरीक्षण कर रहा था उसने मेरा दर्शन तथा स्पर्श करते ही मेरी प्राचीनता पहचान ली। मुझे देखकर अनजाने उसके कंठ से हर्षसूचक अस्फुट स्वर निकल पड़े। माँ जैसे अपने छोटे-से शिशु को अत्यंत सावधानी से गोद में उठाती है वैसी ही सावधानी से श्वेतांग मनुष्य के निरीक्षण में वनवासी लोग मुझे मेरे सहस्रों वर्षों के वासस्थान से उठाकर अन्यत्र ले चले। उस श्वेतकाय मनुष्य ने पुनः बहुत देर तक मेरा [illegible] किया और अंत में मुझे देख-देखकर उसका मुख हर्ष से उत्फुल्ल होने लगा।

हाथों में खंता लिए वनवासी बर्बरों ने पुनः उत्खनन-कार्य आरंभ किया। धीरे धीरे, सँभाल-सँभालकर, भूगर्भ में छिपे हुए प्रस्तर खंड प्रकाश में लाए जाने लगे। आहार-निद्रा का परित्याग कर वह विरल-केश श्वेतांग इस कार्य का निरीक्षण कर रहा था। जान पड़ता था, उसके जीवन में सौभाग्य का ऐसा उदय पहले कभी नहीं हुआ था। क्रमशः परिक्रमण-पथ, वेष्टनी का ध्वंसावशेष, यशोवर्म-युगीन सामग्री, कनिष्क-कालीन वस्तुएँ, धनभूति-युगीन अवशेष आदि भूगर्भ से निकल-निकलकर पुनः दिवालोक का दर्शन करने लगे। श्वेतांग मनुष्य के निर्देशानुसार वनवासी लोग प्रस्तर-खंडों को उठा उठाकर मेरी बगल में ले आए। तदनंतर हम लोगों के शरीर पर बहुत सँभालकर रुई तथा वस्त्र लपेटे गए और हम लोग एक काष्ठाधार में आबद्ध कर दिए गए।

ऐसा जान पड़ा कि मैं चल रहा हूँ—वे लोग बैलगाड़ी पर मुझे कहीं लिवा ले जा रहे हैं। एक स्थान पर हमें बैलगाड़ी से उतारकर उन्होंने किसी दूसरे वाहन पर चढ़ाया। यह दूसरा वाहन अत्यंत द्रुत-गामी था। इतने द्रुत वेग से चलनेवाला कोई वाहन मैंने अपने जीवन में पहले नहीं देखा था। वायु के वेग से यह ज्ञात हो जाता था कि मार्ग अत्यंत तीव्र गति से पार हो रहा है। जो लोग मुझे लेने गए थे उन्होंने कई दिनों के पश्चात् मुझे पुनः वाहनांतरित किया। प्रतीत हुआ कि पुनः बैलगाड़ी पर हूँ। उसी दिन दिवालोक के दर्शन प्राप्त हुए और सैकड़ों लोग हमें देखने के लिये आए। तब से मैं यहीं विराजमान हूँ।

———

परिशिष्ट

अ

अंतर्वेदी—गंगा-यमुना के बीच का भूभाग।

अधिष्ठानाधिकरण—नगर के प्रधान विचारपति।

अनुगांग—गंगातीरवर्त्ती प्रदेश।

अभिधर्मकोश व्याख्या
अभिधर्मविभाषा शास्त्र } —बौद्ध धर्मग्रंथ।

अलसद्द—अँगरेजी ऐलेक्ज़ेंड्रिया।

अहिच्छत्र—पंचाल राज्य की प्राचीन राजधानी। वर्तमान नाम रामनगर (जिला बरेली, उत्तर प्रदेश)।

अर्हत्—सिद्ध बौद्धाचार्य।

आ

आंतियोक—सिकंदर के सेनापति सिल्यूकस के वंशज, सीरिया के राजा ऐंटियोकस तृतीय।

आर्त्तिमिदर—ग्रीक आर्टिमिडोरस।

आनर्त्त—सौराष्ट्र का निकटवर्त्ती प्रदेश।

आलंबन—परिघा का ऊपरी भाग।

उ

उद्यान—प्राचीन गांधार का निकटवर्त्ती प्रदेश। वर्तमान हजारा।

उपासक—बौद्धधर्मावलंबी पुरुष।

उपासिका— ,, स्त्री।

ऐ

ऐरण—प्राचीन पारस्य देश।

क

कनकमुनि / क्रकुच्छंद — गौतम के पूर्ववर्ती बुद्धों के नाम। बौद्ध मत के अनुसार गौतम के पूर्व पाँच व्यक्तियों ने बुद्धत्व प्राप्त किया था।

कपिशा—वर्तमान काबुल। मतांतर, जलालाबाद के आसपास का प्राचीन प्रदेश।

करुष—वर्तमान आरा जिला (बिहार)।

किन्नरध्वज—किन्नरमूर्तियुक्त ध्वज।

कीकट—मगध अथवा बिहार का प्राचीन नाम।

कीर—त्रिगर्त्त का निकटवर्त्ती प्रदेश।

कुक्कुटपादविहार—अथवा कुक्कुटाराम। प्राचीन पाटलीपुत्र का एक संघाराम।

कुरुवर्ष—मध्य एशिया का प्राचीन नाम।

कुशीनगर—प्राचीन मल्ल राज्य की राजधानी जहाँ गौतमबुद्ध का शरीरांत हुआ था।

कौशांबी—महाराज उदयन की राजधानी; वर्तमान इलाहाबाद से लगभग ३० मील दूर।

ग

गर्भगृह—मंदिर अथवा स्तूप का भीतरी प्रकोष्ठ।

गर्भचैत्य—चैत्यों अथवा स्तूपों का कक्ष जिसमें बुद्ध अथवा बौद्ध स्थविरों के भस्मावशेष सुरक्षित रहते हैं।

गांधार—भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित प्रदेश। वर्तमान पेशावर तथा बन्नू जिले।

च

चंपा—वर्तमान भागलपुर के निकट।

चोलमंडल—भारत का दक्षिण-पूर्वी समुद्रतट।

ज

जाउल—जउल अथवा जउब्ल। शक तथा हूण जाति के दल।

जातक—बुद्ध के पूर्वजन्मों के आख्यान।

ट

टक्क—पंचनद अथवा पंजाब का प्राचीन नाम।

त

तक्षशिला—वर्तमान रावलपिंडी जिले में स्थित।

तीरभुक्ति—वर्तमान तिरहुत।

तुषितलोक—बौद्ध ग्रंथों में वर्णित स्वर्गलोक।

त्रिरत्न—धर्म, बुद्ध, संघ की त्रयी।

थ

थेदोर—ग्रीक थियोडोरस।

द

दंडपाशिक—फौजदारी विभाग का काराध्यक्ष।

दशपुर—वर्तमान मंदसौर

दशशील—बौद्धधर्म के दस नियम।

देवपुत्र—कुषाण सम्राटों की उपाधि। चीन तथा पारद के प्राचीन सम्राटों ने भी यह उपाधि धारण की थी।

ध

धर्मचक्र—गौतमबुद्ध ने वाराणसी में जो प्रथम धर्मोपदेश किया था उसे धर्मचक्रप्रवर्त्तन कहते हैं। प्रस्तर शिल्प में इसकी अभिव्यक्ति एक चक्र तथा उसके नीचे दो मृगों से की जाती है। चक्र का अभिप्राय प्रथम धर्मोपदेश तथा मृगों का अभिप्राय वाराणसी का मृगदाव नामक उपकंठ है जहाँ उक्त प्रथम धर्मोपदेश हुआ था।

न

नगरहार—भारत के उत्तर-पश्चिम सीमांत का एक प्राचीन नगर।

नवपत्रिका—प्रस्तर-शिल्प का पारिभाषिक शब्द।

निगम—व्यापारियों का संघ।

नैम—आधा।

नौवाटक—नौ सेना।

प

पारद—पार्थियन; मनुसंहिता में भी पारद जाति का उल्लेख है।

पू-आहित—एक देश - विशेष जिसका उल्लेख मिस्र के प्राचीन लेखों में मिलता है।

पुरु—वर्तमान पेशावर।

पुलिंद—दक्षिणापथ का एक प्राचीन देश।

ब

बलदर्शन—सैन्य-प्रदर्शन; अँगरेजी परेड।

बाविरूक्ष—बवेरु; अँगरेजी बेबीलोन।

भ

भांडागारिक—भांडारी।

भिक्षु—बौद्ध संन्यासी।

भिक्षुणी—बौद्ध संन्यासिनी।

भुक्ति—प्रदेश का एक भूभाग; अँगरेजी डिविज़न।

भृगुकच्छ—वर्तमान भड़ोच।

म

मंडल—प्रदेश का एक भूभाग; परगना।

मत्स्य—वर्तमान जयपुर।

मद्रदेश—प्राचीन पंचनद का एक प्रदेश-विशेष।

मरु—वर्तमान जोधपुर।

महाकोशल—वर्तमान मध्यप्रदेश का उत्तरी भाग।
महादंडनायक—फौजदारी विभाग का प्रधान विचारपति।
महाप्रतीहार—नगर-रक्षकों का अध्यक्ष।
महाबलाधिकृत—प्रधान सेनापति।
महास्थविर—बौद्ध संघ अथवा मठ के प्रधान भिक्षु।
माखेता—ग्रीक मैचेटियस।
मायापुर—वर्तमान हरद्वार।
मिस्राइम—आधुनिक मिस्र देश।
मूलस्थानपुर—वर्तमान मुलतान।
मेनंद्र—ग्रीक मिनैंडर।

य

युवराज भट्टारकपादीय—जिसका पद युवराज के समान हो।

र

राजगृह—वर्तमान राजगिर। पाटलीपुत्र के पूर्व बिहार की राजधानी।
राष्ट्रकूट—वर्तमान राठौर जाति।

ल

लियोनात—ग्रीक लियोनोटस।
लौहित्य—ब्रह्मपुत्र नद।

व

वाह्लीक—वर्तमान बलख।
विदिशा—वर्तमान भेलसा।
विपश्वी, विश्वभू—गौतम के पूर्ववर्त्ती बुद्ध।
विषय—प्रदेश का भूभाग; जिला।

विहार—बौद्ध मंदिर वा संघाराम ।

वैशाली—वर्तमान बसार (मुजफ्फरपुर) ।

श

शक—प्राचीन जाति ।

शूरसेन—वर्तमान मथुरा ।

ष

षाहि—कुषाण सम्राटों की उपाधि । भारतवर्ष में यह उपाधि अद्यावधि प्रचलित है ।

स

संकाश्य—वर्तमान संकीसा (एटा) ।

संघ—बौद्ध भिक्षुओं का संघटन ।

संघाराम—बौद्ध मठ ।

सद्धर्म—बौद्धधर्म ।

साकेत—अयोध्या वा कोशल ।

सुवर्णभूमि—प्राचीन ब्रह्मदेश ।

सुवस्त—प्राचीन भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमांत की एक नदी, वर्तमान स्वात ।

सूची—परिघा का एक भाग ।

स्तूप—बौद्ध मंदिर । यह अर्द्धवर्त्तुलाकार होता है । तथागत ने स्तूप तथा चैत्य की स्वयं व्याख्या की थी ।

स्तूप-वेष्टनी—चैत्य के चारों ओर की प्राचीर या परिघा ।

स्थाण्वीश्वर—वर्तमान थानेसर ।

ह

हिरण्यवहा—वर्तमान सोन नद ।

———